शास्त्रदानसे बडा पुण्यका संचय होता है।

श्रावक साधु इससे ज्ञानवृद्धि करे आत्मकल्याण करें और धर्मवृद्धि करें तो इसका प्रकाशन सफल होगा।

सब लोगोको आशीर्वाद !

जीवन-चरित्र

श्री १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज

आपका जन्म मगसिर सुदी २ वि० स० १९६० को ग्राम कोथलपुर, बेलगाव, मैसूर प्रान्त मे एक जमीदार परिवारमें हुआ था। आपकी पूज्य माताजीका नाम श्री अक्कावती और पिताजीका नाम श्री सत्यगौडजी था, जन्मके समय ज्योतिषीने भविष्य वाणीकी थी कि बालक महान पुरुष होगा, आपका नाम बालगौडा रखा गया। तीन माहकी अल्पायुमे ही आप माताके वात्सल्यसे वंचित होगये, आपका लालन पालन आपकी नानीने किया, किन्तु अभी १२ सालकी ही आयु हुई थी कि आपके सिरसे पिताका साया भी उठ गया, कुछ दिन आप अपनी बुआजीके पास और कुछ समय काकाजीके पास रहे। बचपनसे ही आप सच्चरित्र एव मेधावी रहे। एक बार कोथलपुरमें आचार्य पाय सागरजी महाराज पधारे और उनके सदुपदेशसे आपका मन त्यागकी ओर अग्रसर होगया।

गलतगा ग्राममे आपने आचार्य महाराज पायसागरजीसे सप्तव्यसनका त्याग और अष्टमूल गुणोका नियम ग्रहण किया जिसका आपने बड़ी दृढता और लगनसे पालन किया, आपकी

इच्छा त्यागकी तरफ ज्यादा रहनेलगी, कुछ दिन वाद आचार्य पायसागरजीके शिष्य मुनिराज जयकीर्तिजी महाराज स्तवनिधि पधारे, जिनके प्रवचनसे विरागवृत्ति वलवती होगई और आपने महाराज श्री के चरणोमे दीक्षाकी प्रार्थनाकी ससारकी असारतासे आपका मन व्याकुल होउठा, महाराज श्री जयकीर्तिजीसे सप्तम प्रतिमाके व्रत गहण किये। महाराज जयकीर्ति जीने कुछ समय पश्चात् रामटेक जिला नागपुरमे ऐलकदीक्षा-दी और वालगौडासे देशभूषण नाम रखा गया।

अपरिग्रह से प्रभावित हो निर्ग्रन्थ दिगम्वर मुनिपदकी दीक्षा देनेकी प्रार्थना आपने गुरुवर्यसे की पूज्य महाराजजीने सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरिजी पर मुनिदीक्षा प्रदानकी। मुनिदेशभूपणजी संघ सहित सूरत पधारे, समाजकी प्रार्थना पर वही पर चतुर्मास किया। महाराजकी विद्वत्ता, व्यवहारकुशलता सघके अनुशासन आदिको देखकर समस्त समाजने निर्णय किया कि मुनिदेशभूषणजीको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाय जिससे समाजको सवल नेतृत्व मिल सके। समाजने चतुर्विध सघका नेतृत्व और आचार्यपद ग्रहण करनेकी प्रार्थनाकी, किन्तु आपने कहा कि पूज्यपाद आचार्य, पायसागरजी महाराज विराजमान है वगैर उनकी आज्ञासे यह कैसे सभव है, महाराज पायसागरजीने यह सुनतेही सूरतवालोसे कहाकि देशभूषण इस पदके सर्वथा उपयुक्त हैं आपको सूरतमे भव्य आयोजनके मध्य आचार्यपद से विभूषित किया गया। इसके पश्चात्

दिल्लीकी धर्मपरायण जनताने आचार्य देशभूषणजीको आचार्यरत्नकी उपाधिसे अलकृत किया और गोम्मटेश्वर मस्ताभिषेकके अवसर पर एकत्रित जैन समाजके चतुर्विध संघने उन्हे मुख्य आचार्य घोषित किया !

महाराजश्रीने असख्य लोगोको धर्मका लाभ दिया मद्यमांस का त्याग कराया, आपके प्रवचनसे जनजीवन मे धर्म प्रेम उमडने लगता है आपका उपदेश किसी वर्ग, सम्प्रदाय और मान्यताओ तक सीमित नही रहता है। धर्म सबका है आप सबके है।

आपने अनेक स्थानो पर मदिरोका निर्माण कराया। प्रतिष्ठायें कराई है। कोल्हापुर मे शिक्षा कालेज, श्री अयोध्याजी का भगवान ऋषभदेवजीका भव्य मन्दिर एव गुरुकुल, कोथलपुर का श्रीजिन मदिर और गुरुकुल हाई स्कूल आपकी मुंह बोलती तस्वीरें है। सम्प्रति भगवान महावीर स्वामीके २५०० वे निर्वाण महोत्सव पर दिल्ली मे महावीर स्वामी की भव्य उत्तुङ्ग खडगासन प्रतिमाके विराजमान कार्यको पूरा कराने में प्रयत्नशील हैं।

अनेक विदेशी जिज्ञासुबन्धु महाराज श्री के चरणो मे धर्म-लाभ लेने आते रहते है, व्रत नियम ग्रहण करते है। आचार्य श्री ने कई मौलिक ग्रन्थोकी रचना की है अनुवाद किया है जिनकी सख्या करीब पचास से भी अधिक है। प्राचीन अप्राप्य अप्रकाशित ग्रन्थोका प्रकाशन कराकर श्री जिनवाणी के प्रचार मे दत्तचित्त रहते है प्रस्तुत ग्रन्थ आपके उपदेश का ही फल है। वस्तुत: आचार्यश्री स्वयं मे एक जीवित सस्था हैं नवचेतना के सूत्रधार है,जागरणके अग्रदूत हैं। अहिसा और अपरिग्रह के समर्थसन्देश वाहक है।

७० वर्षकी आयुमें भी आप हमेशा ध्यान,तप और साहित्य सृजनके कार्यमें लीन रहते है। इस समय आप दिल्लीजैनसमाज की प्रार्थना पर देहलीमें ससंघ विराजमान है और भगवान महावीरस्वामीके २५००वें निर्वाण महोत्सवकी सफलताके लिये पूर्ण प्रयत्नशील हैं, उसी शृंखलामें श्री "भगवान महावीर और उनकी वाणी" नामक एक वृहत् ग्रन्थकी रचना तथा सम्पादन के कार्यमें संलग्न है।

आपके सरल स्वभावसे मानवके चित्तको बड़ी शांति मिलती है . आप शतशतायु हों, यही मेरी कामना है।

दिल्ली
२६ जनवरी १९७३]

[विनीत
प्रेमचन्द्र जैन

श्रीअमितगति आचार्यकृत—

तत्त्वभावना

या

बड़ा सामायिक पाठ।

मङ्गलाचरण—दोहा।

अर्हत्सिद्धाचार्यको, वंदि साधु गुणदाय।
निजवाणी वृप चैत्यजिन, मंदिर नमूं सुध्याय ॥१॥
परमातम सम आपको, ध्याय सुगुण उर लाय।
समताभाव प्रकाशके, आतम सुख झलकाय ॥२॥
सामायिकके भावको, कर प्रकाश निज ज्ञान।
भव्यजीव भी रस पियें, यह उपकार पिछान ॥३॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना सार।
बालबोध भाषा करूं, भवदधि तारणहार ॥४॥
सन्मति वीर सुवीरको, वर्द्धमान महावीर।
गौतम गुरु कुन्दादिको, सुमरौं लिय धरि धीर ॥५॥

उत्थानिका—पहले ही चलने में जो हिंसा हुई उसका पश्चात्ताप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिताः ।
जीवाः संचरता मया दशदिशश्चित्तप्रमादात्मना ॥
ते ध्वस्ता यदि लोढिता विघटिताः संघट्टिता मोटिताः ।
मार्गालोचनमोचिना जिन! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम्॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्तको करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथको देखना छोडकर (दशदिश.संचरता) पूर्वादि दश दिशाओमे चलते हुए (मया) मेरेसे (एक द्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतय) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, आदिक अर्थात् चौन्द्रिय व पचेंद्रिय (ये) जो (पचधा) पाच प्रकारसे (जीवाः) ससारी जीव (अवस्थिताः) शास्त्रमे स्थापित किये गए हैं (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ता.) नाश किये गए हो (लोढिताः) उलट पुलट किये गए हो (विघटिताः) अलग अलग कर दिये गए हो (संघटिता) मिला दिये गए हों (मोटिता.) पैरोसे रौंदे गए हो (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो ।

भावार्थ—सामायिक करते समय पिछले किये गए पापोंको याद करके प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप इसीलिये किया जाता है कि जिसमे आगेके लिये उस पापसे बचा जावे । अहिसाव्रतकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि चार हाथ जमीन आगे देखकर चला जावे । मुनिगण महाव्रती होते हैं वे दिनके प्रकाशमे प्राशुक रोदी हुई जमीनपर ही चलते हैं और बडी भारी सावधानी रखते हैं कि मेरे द्वारा कोई छोटाबडा वृक्ष भी रौंदा न जावे, कोई छोटा

कीडा भी पैरोके नीचे न आजावे। फिर भी साधन अवस्थामे किसी समय सावधानी न रहनेसे कोई जंतु कदाचित् पैरके नीचे दबकर मरजाय, या उलट पलट होजावे,अथवा शरीर, जमीन, कमंडल आदिको मुलायम पीछीसे पोछते हुए कोई जंतु जो मिले थे अलग २ कर दिये जावें, व कई जो अलग थे वे मिला दिये जावे इत्यादि कारणोसे प्रमाद हेतु होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका बंध संभव है। उस पापके बंधको छुड़ानेके लिये मुनिगण इस तरह बिचारकर भावना भाते हैं। इस भावनासे, पाप कर्म जो बंधचुका है उसकी स्थितिमे व उसके अनुभागमे कमी होजाती है। श्रावकोमें आरंभ त्यागी आठमी प्रतिमासे उद्दिष्ट त्यागी ग्यारमी श्रेणी तकके श्रावक हिंसासे बचनेमे बहुत ही सावधान होते हैं। वे स्वयं हिंसाकारक आरम्भ नही करते हैं, न कराते हैं। इसलिये ये श्रावक भी मुनिके समान किसी सवारीपर नही चढ़ते हैं—मार्गको देखकर चलते हैं । ग्यारहवी प्रतिमावाले ऐलक मुनि समान व्यवहार करते हैं; इसलिये रात्रिको न चलते हैं न बोलते हैं। उससे पहलेके श्रावक अति आवश्यक्ता हो तो धर्मकार्यवश प्रकाशमे मार्गको देखते हुए चलते हैं। आठमीसे नीचेके श्रावक आरम्भ त्यागी नही होते हैं। उनसे हिंसा अधिक होजाती हैं । वे आरंभी हिंसासे बच नही सकते तथापि यथासंभव आरम्भ व्यर्थ व अनावश्यक नही करते। आवश्यक आरंभ करते हुए भी जीवदया भावोमें रखते हैं। यथासंभव जीवघात बचाते हैं। युद्धमें सामना करनेवालेको ही प्रहार करते हैं। भागते हुएको, शरणमे आए हुएको, घायलको, स्त्रीको बालकको नही सताते हैं। खेतीमे भी जान बूझकर किसीको नही मारते हैं। व्यापारमे भी पशुओपर अधिक भार लादकर कष्ट नही देते हैं। सवारीपर चलते हुए अधिकतर रौंदे हुए

मार्गपर सवारीको ले जाते हैं। पैदल चलते हुए अपनी आंखोंसे देखकर चलते हैं। तौभी आरंभी श्रावकसे बुहारी देते हुए, घरके काम करते हुए, माल उठाते धरते हुए, मकानादि बनवाते हुए बहुत अधिक जीवहिंसा होजाती है। यहां इस श्लोकमें मात्र चलते समय जो हिंसा होती है उसीकी मुख्यता है। हिंसासे लगे हुए पाप-रसको घटानेका विचार ऐसे श्रावक भी करते हैं जिससे आगेके लिये उनके व्यवहारमे अधिक सावधानी होजावे। जो मानव किसी कर्मको छोड़ नही सकता है परंतु निरंतर विचारता है कि यह कर्म छोड़ देने योग्य है वह कभी न कभी छोड़ भी देगा व उसे कम करता जायगा, इसलिये हिंसा त्यागकी भावना हरएक मुनि व श्रावकको करना उचित है। यह पाठ सर्व ही प्रकारके धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका द्वारा मनन करने योग्य है। हिंसा हुई हो उसका पश्चात्ताप अहिंसा पालनमें सावधान करनेवाला होता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

हे श्री जिनेन्द्र ! प्रमाद चित्त हो मार्गको देखे विना।
दश दिश भ्रमण करते विराधे पंच विध जंतू घना।
जो एक द्वै त्रय आदि इन्द्रिय दलमले छिनभिन किये।
उलटे तथा पलटे मिलाए, पाप मिथ्या होंय ये ॥१॥

उत्थानिका—हमारा समय शुभ कार्योंमें वीते ऐसी भावना करते हैं—

अर्हद्भक्तिपरायणस्य विशदं जैनं वचोऽभ्यस्यतो ।
निर्जिह्वस्य परापवादवदने शक्तस्य सत्कीर्तने ।।
चारित्रोद्यतचेतसः क्षपयतः कोपादिविद्वेषिणः ।
देवाध्यात्मसमाहितस्य सकलाः सर्प्यंतु मे वासरा. ।।२।।

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्रदेव (मे) मेरे (सकलाः) सर्व (वासरा) दिवस (अर्हद्भक्तिपरायणस्य) अर्हंतकी भक्ति की लीनतामे (विशद) निर्मल (जैन वचो) जिनवाणीके (अभ्यस्यत) अभ्यास करनेमे, (परापवादवचने) दूसरोकी निन्दा कहनेमे (निर्जिह्वस्य) जिह्वा रहित रहनेमे अर्थात् दूसरोकी निन्दा न करनेमे (सत्कीर्तने) सत पुरुषोंके गुणोंके वर्णनमे (शक्तस्य) अपनी शक्ति लगानेमे (चारित्रोद्यतचेतस.) चारित्रके लिए उद्यमी चित्त रखनेमे (कोपादिविद्वेषिणः) क्रोध आदि शत्रुओ को (क्षपयत.) क्षय करनेमे तथा (अध्यात्मसमाहितस्य) आत्माके भीतर भले प्रकार लीन होनेमे (सर्प्यं तु) बीतें।

भावार्थ—यहा मोक्षार्थी सुख शातिको चाहता हुआ व स्वाधीनताके मनोहर वनमे रमनेकी उत्कठा करता हुआ, सुख शाति व स्वाधीनताके निमित्त कार्योंमे नित्य लगे रहनेकी भावना करता है। साधक शिष्यका प्रयोजन अपने भावोमेसे क्रोधादि कषायोंके मैलको कम करके शाति, क्षमा, वैराग्य, आत्ममनन, आत्मानुभव आदि शुभ तथा शुद्ध भावोका प्राप्त करना है। इस मतलबको ध्यानमे लेकर जिनकी संगति करने से व जिस क्रियाके करनेसे वह मतलब सिद्ध हो उसमे अपने मनको जोडता है। और जिनकी संगतिसे व जिस क्रियासे क्रोधादि कषाय बढ़ें व संसारसे मोह अधिक हो आवे उनसे

बचता है। जैनधर्मके सेवनका यही प्रयोजन है। यह धर्म सुख-शांतिमय है तथा सुखशातिको देने वाला है। इस धर्ममें वही देव पूजने योग्य है जो सर्वज्ञ, वीतराग व आनन्दमयी है। वही शास्त्र मानने योग्य है जिसमे सुखशाति पानेका उपाय यथार्थ बताया हो। वही गुरु वन्दने योग्य है जो आत्मज्ञानी, वैरागी व सुखशातिका भोगनेवाला है। वही मनन व ध्यान कार्यकारी है जो सुख व शांति प्रदान करे। इसलिये साधकने नीचे लिखे कार्यों मे लगे रहनेकी भावना की है। (१) श्री अर्हंतकी भक्ति व पूजा व गुणोका स्मरण; क्योकि यह भक्ति अवश्य परिणामो को शांत कर देती है। (२) जिनवाणीका पढ़ना; क्योकि इससे अज्ञान और अशांति मिटती है। (३) दूसरोकी निन्दा न करना; क्योकि जिसकी आदत परनिन्दाकी पड़ जाती है वह दूसरोके औगुणोको ढूढा करता है। उसका उपयोग अपनी उन्नतिमे दृढ नहीं होता है व वह स्वयं औगुणवाला होजाता है। (४) धर्मात्माओ के गुणो का वर्णन; क्योंकि ऐसे गुणोंके कथनसे मन उन गुणोके लाभमे उत्साही होजाता है। (५) चारित्रके लिए उत्साही होना व उद्यम करना, क्योकि राग-द्वेषके हटानेका उपाय मुनि व श्रावकका चारित्र पालना है। भीतरी चारित्र आत्मस्वरूपमे लीनता है, उसका निमित्त साधक व्यवहारमे महाव्रत व अणुव्रतका पालन है। (६) क्रोधादि शत्रुओंको नाश करना। वास्तवमे जितना इनका अभाव होगा उतना अपना आत्माका स्वभाव प्रकाशमान होगा। (७) आत्म स्वरूपमें लीनता या अनुभव; क्योकि यही स्वात्मानुभव वास्तव में सुखशातिको साक्षात् देनेवाला है। जो मानव सच्चे दिलसे इन सातो बातो को चाहता है, इनके साधनके लिए उपाय किया

करता है वही सुखशातिको पाता हुआ मोक्षमार्गपर चलनेवाला है। जैन मंदिरोमे जो नित्य पूजाके पीछे शातिपाठ पढा जाता है उसमे भी इसी तरहकी भावना बताई है। जैसे—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुति. संगतिः सर्वदार्य्यै. ।
सद्वृत्ताना गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥
सर्वस्यापि प्रियहितबचो भावना चात्मतत्त्वे ।
सम्पद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेऽपवर्ग. ॥

भावार्थ—जबतक मोक्ष न हो तबतक भव भवमे इतनी बातें प्राप्त हो [१] शास्त्र पठन [२] जिन भक्ति [३] सत् पुरुषों की संगति [४] सुचारित्रवालोके गुणोकी कथा [५] परनिंदा न करना [६] सबसे प्यारे मीठे वचन बोलना [७] आत्म-तत्वमे विचार रहना।

जहातक आत्मतत्त्व भले प्रकार न जाग्रत हो वहाँतक व्यवहार धर्ममे देव शास्त्र गुरुका आराधन करते ही रहना चाहिये। श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशतिमे इस तरह कहते हैं—

देवं तत्प्रतिमा गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे ।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ॥
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणा ।
स्फारीभूतमतिप्रबधमहतामात्मैव तत्त्व परम् ॥

भावार्थ—हम व्यवहार धर्ममे चलते हुए अत्यन्त भक्तिवंत हों जिनेन्द्रदेवको, उनकी मूर्तिको, मुनीश्वरको व शास्त्र आदि सर्व को मानते हैं अर्थात् इन सबकी सेवा किया करते हैं। परन्तु जब हम रत्नत्रयकी एकता अर्थात् समताभावका आश्रय करेंगे और हमारे भीतर चैतन्य तत्त्व प्रकट होकर बुद्धि विशाल होजायगी

तब हमारे लिए निश्चय से एक आत्मतत्त्व ही देव, गुरु या शास्त्र होजाएगा। इस प्रकार साधकको व्यवहार धर्मकी भावना निश्चयधर्मके लाभके लिए करते रहना चाहिये।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द।

हे देव ! श्री जिन भक्ति करते जैन वच अभ्यासते।
निन्दा न करते अन्यजन की साधु गुण सुप्रकाशते ॥
चारित्र चितमे चाहते क्रोधादि शत्रु निवारते।
बीतें दिवस मेरे सभी अध्यात्म अनुभव धारते ॥२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरे चरित्रमे जो दोष लगे हो वे व्यर्थ होवें—

आलस्याकुलितेन मूढमनसा सन्मार्गनिर्णाशिना।
लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना ॥
यद्देवाचरित विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते! तत्त्वत्प्रसादेन मे ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् (आलस्याकुलितेन) आलस्य से भरकर व (मूढमनसा) मनमे विवेकको छोडकर मूर्खता धार के (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्गकी विराधना करते हुए (लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना) व अपने आत्माको क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदिसे लिप्त करके (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धिके द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धेः,चारित्रकी शुद्धतासे विरुद्धम्,विपरीत,आचरितं) आचरण किया गया हो(भो जिनपते !) हे जिनेन्द्र भगवान! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसादसे (तत्) वह(मे) मेरा (दुष्कृतम् दुष्कृत या पाप या दोष(मिथ्या)नाश (अस्तु) हो।

भावार्थ— यहापर भी प्रतिक्रमणका भाव झलकाया गया है। जहांतक कषायोका अभाव न हो अर्थात् वीतरागी न होजावे वहातक कषायोंका जोर कभी कम व कभी अधिक होता रहता है। जिससमय परिणाममे कषाय मंद होती है तब ही भावोंमें शांति, विवेक, बुद्धिमानी झलकती है। तब वह मानव मुनि हो या श्रावक अपने धारण किये हुए चारित्रके नियमोंमें बहुत बडा सावधान रहता है और मन, वचन, कायसे कोई दोष नहीं लगने देता है। परन्तु जिससमय किसी निमित्तवश परिणाममें लोभका कुछ जोर होजावे या क्रोधका वेग उठ आवे या मानभावसे अन्धेरा होजावे या आलस्य होजावे या द्वेषबुद्धि पैदा होजावे या कामभावसे बावला होजावे उस समय मनमे अशांति, अज्ञान और मूढता कम व अधिक घर कर लेती है। तब उसी मुनि व श्रावकसे चारित्रके पालनमे बहुतसे दोष लग जाते हैं। कदाचित् काय व वचन सम्बंधी न हो व बहुत ही अल्प हो परंतु मानसिक दोष तो हो ही जाते हैं। इसीलिये प्रतिक्रमण किया जाता है। जिसमे यह भावना भाई जाती है कि वे दोष दूर हो व उनसे लगा हुआ पाप क्षय होजावे या कम होजावे। श्री जिनेन्द्र भगवानके गुण परम पवित्र हैं। इसलिये उनके निर्मल गुणोंके स्मरणसे परिणाम निर्मल होजाते हैं और पवित्र भावोमे यह शक्ति है कि पापोंका नाश कर डालें। जैसे स्थूल शरीरमें बहुत सावधानीसे हवा, पानी व भोजन लेते हुए व समयमे भोजनपान, नीहार, विहार व निद्रा लेते हुए कभी भी किसी न किसी बातमे भूल होजाती है। अनिष्ट भोजन जबानके स्वादवश खालिया जाता, रात्रिको देरतक जागकर निद्रा कम लीजाती, व कामकाजमे उलझ जानेसे बेसमय भोजन किया जाता, व अधिक स्त्री-प्रसंग किया जाता इत्यादि अपनी ही

भूलोंसे छोटे या बड़े रोग पैदा होजाते हैं। तब गृहस्थ लोग उनके दूर करने के लिये औषधिया काममे लेते हैं कि वह रोग शीघ्र मिट जावे, अधिक न बढ़े जिससे कि शरीर बेकाम होजावे। इसी तरह मुनि या श्रावक बडी सावधानीसे अपना आचरण पालते हैं तथापि कभी कभी किन ही बाहरी कारणोके वश होकर चलनेमे देखनेका प्रमाद होजावे, बोलनेमे कठोर व कषाय युक्त वचन निकल जावे, भोजनमे स्वादिष्ट पदार्थकी लालसा होजावे, किसी स्त्रीको देखकर मनमे विकार होजावे, असुहावनी कृतिको देखकर मनमे अरतिभाव आजावे, सामायिक करते हुए धर्मध्यान न होकर किसी कारणसे आर्तध्यान होजावे इत्यादि दोष होजाना सभव है। तब वह मुनि या श्रावक प्रतिक्रमण करके तथा परमात्माके पवित्र गुणोका स्मरण करके अपने भा-वोको निर्मल करता है, मानो दोषोके रोगोको हटानेके लिये औषधि पीता है। ऐसा करनेसे दोषरूपी रोग मिटते रहते हैं, वढ़ने नही पाते। और वह आगामीके लिये सावधान रहता है। वास्तवमे यह प्रतिक्रमण एक तरहका स्नान है जो मनके मैलको व आत्माके पापोको धोदेता है।

श्री पद्मनदि मुनिने आलोचना पाठमे ऐसा ही कहा है:—

पापं कारितवान्यदत्रकृतवानन्यैः कृत साध्विति।
भ्रांत्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ॥
काले स्फुरति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गत यत्पुन.।
तन्मिथ्याखिलमस्तु में जिनपते! स्वं निंदतस्ते पुरः ॥७॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जो मैंने अपने मन वचन कायके द्वारा इस समयतक पाप किया हो, कराया हो व दूसरोंसे किये जानेपर उसे भ्रमबुद्धिमे पड़कर भला माना हो ऐसे नव तरहके दोष जो पहले लगे हो व अब लगते हो व आगे लगेंगे उन सब दोषोका नाश हो । मैं आपके सामने अपनी निन्दा कररहा हूं ।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता ।

हे देव ! आलस ठान हो अविवेक वृषपथ नासिया ।
कर क्रोध लोभ प्रमाद मान कु काम द्वेष प्रकाशिया ॥
चारित्र शुद्ध विरुद्ध जो कुछ धी रहित मैंने किया ।
जिनराज ! तव परसाद से हो नाश मै अघ बाधिया ॥ ३॥

उत्थानिका—आगे भावना करते हैं कि मेरा समय धर्म-ध्यान व रत्नत्रयकी एकतामे बीते—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बधास्रवौ रुंधत. ।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रिय कांक्षत: ॥
देहादे: परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो ।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनस. काल: प्रयातु प्रभो ॥४॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभु ! (जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुष:) जीव और अजीव पदार्थोको जानते हुए (बधास्रवौ रुंधत.) आस्रव और बंधको रोकते हुए (शाश्वत्) निरंतर (संवरनिर्जरे विदधत:) संवर और निर्जराको करते हुए (मुक्तिप्रियं कांक्षत:) मोक्षरूपी प्रियाकी चाह रखते हुए (देहादे.) शरीर आदि पर पदार्थोंसे भिन्न (अमलं) निर्मल (परमात्मतत्त्वं) परमात्माके स्वरूपको (तत्वत) यथार्थ रूपसे (पश्यत:) अनुभव करते हुए और

(धर्मध्यानसमाविशुद्धमनस) धर्मध्यान और समताभावमे शुद्ध मनको लगाते हुए (मे) मेरा (काला.) समय (प्रयातु) बीते।

भावार्थ—इसमे आचार्यने जैन सिद्धांतके मूलश्लोकभूत सात तत्वोंका संकेत करते हुए उनपर श्रद्धानको दृढ़ किया है। तथा उनमें कौन ग्रहण योग्य हैं व कौन त्यागने योग्य हैं इस भेद विज्ञान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारनय दोनोंसे बताया है। असल बात यह है कि जिसको सुखशाति पानेकी चाह हो व अपने आत्माको पवित्र करनेकी रुचि हो उसको सात तत्त्वोको भलेप्रकार समझकर उनपर अपना विश्वास लाना चाहिये। जीव और अजीव तत्त्वमें तो यह समझाया है कि यह लोक जीव और अजीव पदार्थोंका समुदाय है। विना इन दो पदार्थोंको माने हुए ससार और मोक्ष बन ही नही सकता है। यदि एक मात्र जीव ही पदार्थ होता तो सब जीव शुद्ध अपने स्वभाव हीमें पाए जाते। न कोई अशुद्ध होता न कोई दु.खी होता न शुद्ध होने के लिये व सुखी होने के लिये कोई धर्म का साधन करता। क्योंकि जीवका स्वरूप ज्ञानदर्शन सुख शातिमय है। यह स्वभावसे सबको जानने देखनेकी शक्ति रखता है, क्रोधादि इसका स्वभाव नही है किन्तु शाति इसका स्वभाव है,आनद भी इसका स्वभाव है। सब ही जीव परमात्म स्वरूप ही उस लोकमे होते यदि एक जीव पदार्थ ही होता और यदि एक अजीव पदार्थ ही होता तो सब कुछ जड़ अचेतन होता फिर कोई जाननेवाला व सुख दु.खको वेदनेवाला नही होता फिर कहना सुनना समझना समझाना कुछ भी नही होता सो दोनोका एकांत नहीहै। जगतमें जीवभी

और अजीव भी हैं। संसारी जीव सब अशुद्ध हैं; क्योंकि इनमे ज्ञानकी कमी है, क्रोधादि है, क्लेश आदि भोगते हैं। यह अशुद्धता इसीलियेहै कि इनके साथ कर्मरूपी पुद्गलोंका जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा अजीवके पांच भेदोमेंसे एक है, उनका बंध है। इसीको पाप व पुण्य कर्मका बंध कहते हैं। अजीव पांच हैं—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनमें पुद्गल मूर्तिक है; क्योंकि इसमें स्पर्श, रस गंध, वर्ण, गुण पाए जाते हैं, शेष चार अमूर्तीक हैं। सारी रचना जो हमारी पांचो इंद्रियोसे मालूम करनेमे आती है पुद्गलसे रची हुई है। हम शरीरसे पुद्गलको छूते हैं, मुखसे पुद्गलको खाते पीते व चबाते हैं, नाकसे पुद्गलको ही सूंघते हैं, आंखसे पुद्गलको ही देखते हैं, कानसे शब्दोको सुनते हैं जो पुद्गलसे बने हुए हैं। सूक्ष्म पुद्गल इंद्रियोके द्वारा ग्रहणमे नही आतेहैं तथापि उनके कार्य प्रगट हैं। उन कार्योंके द्वारा उनका होना समझ लिया जाता है। जैसे कर्म पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं इंद्रियोसे जाने नहीं जाते परंतु संसारमें जीवोके भीतर अशुद्धता व दुःख सुखका भोगना देखकर अनुमान लगाते हैं कि पाप व पुण्यका अथवा कर्मोका बंध है। इस लोकमें जीव और पुद्गल एक दूसरेपर असर डालते हैं, हलन चलन करते हैं, तरह २ के कामोको करनेवाले ये दो ही बड़े कार्यकर्ता हैं। बहुतसे पुद्गल अपने स्वभावसे काम किया करते हैं, जैसे आगकी गर्मीसे पानीका भाप बनना, बादलोका गिरकर पानी बरसना, धूप होना, छाया होना आदि कामपुद्गलोके द्वारा उनके स्वभावहीसे हुआ करते हैं,बहुतसे कामोको यह ससारीजीव करता है। जैसे—खेती करना, मकान बनाना, कपडाबुनना आदि २। तीसरा कोई एक ईश्वर करानेवाला नही है, न काम करने

करानेमे इसकी कोई आवश्यक्ता ही है। घीके सामने अग्नि आनेसे पिघलेगा ही, बर्फके सामने गर्मी आनेसे पानी होगा ही। ईश्वरका इन कामोमे हाथ है ऐसा कहना व्यर्थ है। ईश्वर निर्विकार, इच्छारहित, परमानन्द मई है, वह किसी वस्तुके बनाने व बिगाड़नेमें दखल नही देता है।

जीव और पुद्गल चार काम अपनी ही ताकतसे करते हैं; जैसे—चलना, ठहरना, जगह पाना और अवस्थाओंको बदलना। क्योंकि हरएक कामके लिए खास निमित कारणकी जरूरत है। इसलिए इन चारों कामोंके लिये जैन सिद्धांतने चार द्रव्य माने हैं। जो जीव और पुद्गलोंके चलनेमे उदासीन कारण है वह लोक-व्यापी धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्गलोके ठहरनेमें सहकारी है वह लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवकाश देता है वह अनन्तव्यापी आकाशद्रव्य है। जो सब द्रव्यो की अवस्था बदलने मे मदद देता है वह कालाणु नामका कालद्रव्य है, जो रत्नोके समान अलग२ लोकके असंख्यात प्रदेशोमें तिष्ठा है।

जीव और कर्म पुद्गल इन दो द्रव्योके सम्बन्धके कारणसे आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये पाच तत्व व्यवहार किये जाते हैं।

संसारी जीवोंके मन, वचन, कायके कामोंके होते हुए आत्माके प्रदेश कॉपते हैं इस कारणसे चारों तरफके कर्म पुद्गल जीवके अच्छे या बुरे भावोके अनुसार पुण्य या पाप रूपमें आते हैं। इसहीको आस्रव तत्व कहते हैं। ये आए हुए ही कर्मपुद्गल जीवके साथ जो कार्माण शरीर है उसीमे बंध जाते हैं। यह बंधन किसी नियमित समयके लिए होता है। उस समयके

भीतर २ वे अवश्य गिर जाते हैं। जिन कर्मोंके अनुकूल सामग्री होती हैं वेकर्मफल देकर व अनुकूल सामग्री विना फल दिये भी झड़ जाते हैं।

आस्रव और बंध तत्वसे यह ज्ञान होता है कि जीव अशुद्ध कैसे होता है। क्योकि जबतक परमात्म स्वभावके निकट न पहुँचे तबतक संसारी जीवोके मन वचन काय काम किया करते हैं और हर समय जैसे पुराने कर्म झगडते हैं वैसे नए पुण्य या पाप कर्म बंधते भी जाते हैं। यदि आत्माको कर्मबंधसे छुड़ाना हो तो संवर और निर्जरा तत्वको समझना चाहिये। कर्मोंके आने और बंधके रोकनेको संवर कहते हैं। संवरके लिए उद्यम करना चाहिये। जिन भावोंसे कर्म बंधते है उनको रोकना चाहिये। इस संवरके लिये हिंसादि पाँच पाप छोड़कर अहिंसा सत्य आदि पाँच व्रत पालना चाहिये,क्रोधादि भावोंका रोककर उत्तम क्षमा आदि दशधर्म पालना चाहिए,आर्त्तध्यान रौद्रध्यान रोककरधर्म-ध्यान शुक्लध्यान साधना चाहिये, प्राचीन बंधे हुए कर्मोको अपने समयके पहले व उनका विना फल भोग हुए दूर करने की रीति को निर्जरा तत्व कहते हैं- तप करनेसे अर्थात इच्छाओंको रोक कर आत्मध्यान व वीतराग भावका अभ्यास करनेसे कर्म झड़ते जाते हैं। सर्व कर्मोंके बंधसे छूटकर आत्माके पवित्र हो जानेका नाम मोक्ष तत्व है। मोक्ष अवस्थामे आत्मा सदा अपने ज्ञाना-नंदका विलास किया करता है। इन सात तत्वोमे अजीव, आस्रव व बंध त्यागने योग्य हैं जबकि जीव, सवर, निर्जरा व मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं। परंतु निश्चयनयसे इन सात तत्वोमे दोही पदार्थ

हैं— जीव और अजीव । इन दोनोमेसे जीवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये इसीलिए आचार्य ने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बधके कारणोको रोको, सदा सवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पानेकी उत्कठा रक्खो तथा निश्चयनयसे एक अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्वको भेद विज्ञानके बलसे रागद्वेषादि भावोसे भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो । यही मार्ग सुख शाति पानेका तथा कर्मोके बधसे छूटनेका है । जबतक हम इस देहमे हैं हमे अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिए । यही मानव-जीवनका लाभ है । श्री पद्मनदि मुनिने आलोचनाके पाठमे मुक्तिपदकी ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदता च बहुधा मध्ये तथा योनयः ।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिला. प्राप्ता मयानंतशः ॥
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम् ॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव ! पूर्णां कुरुः ॥

भावार्थ—हे देव ! मैंने इस ससारमे चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्यकी बहुत प्रकार योनियोको अनतवार पाया । इसलिये सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रयकी पदवीके और कोई वस्तु मेरे लिये अपूर्व नही है अर्थात् मैं सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नही चाहताहूँ, क्योकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है । इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिये ।

वास्तवमे ऐसी२ भावना परिणामोको निर्मल करनेवाली है और सुख शांति प्रदान करनेवाली है।

मूल श्लोकानुसार छंद गीता

सत् तत्व जीव अजीव जानत बंध आस्रव रोकते।
करते सुसंवर निर्जरा नित मुक्तिप्रिय अवलोकते॥
देहादिभिन्न सुनिर्मल परमात्म तत्त्व सुध्यावते।
मम काल बीते हे प्रभो! वृप ध्यान समता पावते॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्तम कार्य वही कर सकता है जिसका ससार वास समाप्त होनेको आया है व जो मुक्ति पानेके लिये शीघ्र ही अधिकारी होगया है—

पृथ्वीवृत छद।

कपायमदनिर्जय. सकलसंगनिर्मुक्तता।
चरित्रपरमोद्यमो जननदुःखतो भीरुता॥
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृपीकहरिनिगहो निकटनिर्वृतेर्जायते॥५॥

अन्वयार्थ—(कपायमदनिर्जय) क्रोधादि कपायोके मदको जीतना (सकलसंगनिर्मुक्तता) सर्व परिग्रहका त्याग (चरित्रपरमोद्यमो) चारित्रके लिये गाढ़ प्रयत्न (जननदुःखतो भीरुता) ससारके दु खोसे भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरोके चरणोकी सेवा (जिनवचोरुचि) जिनवाणीमे रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तुका त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृपीकहरिनिग्रहा) इद्रिय रूपी सिहको वश करना (निकटनिर्वृतें.) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्माके (जायते) ये बातें प्रगट होती हैं।

भावार्थ—यहा यह दिखलाया है कि जिनको ससार-समुद्र तिरनेमे बहुत थोडी देर है अर्थात् जो दीर्घकाल तक ससारमेफंसे न रहेंगे और शीघ्र ही मुक्तिको पायेंगे उन महात्माओको ही वे सब कारण व साधन सहजमे मिल जाते है, जो कर्मोंको काटने वाले है। वास्तवमे मुक्तिका साक्षात् साधन निर्ग्रंथ पद है। अर्थात् सर्व परिग्रह रहित साधुपद है। जिसका बाहरी भेष नग्न दिगम्बर है, मात्र पीछी व कमडल और होता है, जिससे जीवदया पाली जावे और शौचका काम लिया जावे। ये साधु शरीरसे ममताके त्यागी होते है, इसी लिये अपने केशोको हाथसे घासके समान उखाडकर फेंक देते है। तथा ये अहिंसाव्रतके पूर्ण पालक होते हैं इसीलिये चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिनमे चलते हैं। रात्रिको एक स्थानमे ठहरते है। जिनके वचन वडे मिष्ट, अल्प व शास्त्रोक्त होते है। जो शुद्ध भोजन समताभावसे गृहस्थोको विना किसी प्रकारका कष्ट दिये हुए जो उन्होने अपने कुटुम्बक हेतु बनाया है उसीका कुछ भाग भक्तिपूर्वक दिये जानेपर लेते है। जो निर्जंतु स्थानोमे मल मूत्र करते है व जो किसी वस्तुको देख शोधकर उठाते धरते है। ऐसे पाच समितिके पालक है, जो विना दिये हुए अपनेसे कभी कोई वस्तु यहातक कि पानी व फलफूल भी नही लेते। जो सत्य वचनोके सिवाय कभी भी हिंसाकारी असत्य नही कहते। जो परम शुद्ध ब्रह्मचर्यकीदृष्टिसे देखते हुए कामभावको अपने मनमे जगह नही देते। जो किसी क्षेत्र व रुपये पैसेपर व किसी अन्य चेतन अचेतन पदार्थपर ममत्वभाव नही रखते। ऐसे पाच अहिंसादि महाव्रतोंके पलक हैं।

जिन्होने क्रोधादि कषायोको ऐसा जीत लिया है कि सताए जानेपर भी किसीपर द्वेष नही करते है। अपने शत्रुकी भी आत्माका हित ही चाहते है। जो विद्वान् व माननीय होनेपर भी कभी घमंड नही करते। कही तिरस्कार होजाय तो जरा भी उदास नही होते। जो कभी कपट या मायाचार नही करते मनमे जो होता है वही वचनसे कहते, वचनसे कहते वही क्रिया करते है। जो लोभके यहातक त्यागी है कि अनेक प्रलोभनोके कारण मिलनेपर भी वीतराग भावसे नही हटते। जिनका निरतर यह उद्यम रहता है कि हम स्वरूपाचरण चरित्रमे डटे रहे अपने निज आत्माका अनुभव करते रहे, जिनके मनमे चार गतिरूप समार महाभयंकर आकुलताका समुद्र दीखता है, सदा यह खटका रखते है कि यह मेरा आत्मा कही इस गोरखधधेमे न फंस जावे। जो अपने गुरुओकी सेवा इसीलिये करते रहते है कि गुरु उनके चारित्र-की सम्हाल रखते और उनको सदा मोक्ष मार्गपर भले प्रकार चलनेके लिये उत्तेजना देते व सुधार करते है। जो जिनवाणीको तत्वविचारमे परम उपयोगी समझकर उसका निरंतर वड़े प्रेमसे अभ्यास करते है। जो अपने आत्मीकशुद्ध भावोके सिवाय सर्व पर भावोको त्याग देते है या जो निरतर जीवरक्षा करके अभयदान देते व धर्मोपदेश देकर ज्ञानदान देते है ,व जिनके वशमे पांचो इंद्रिया रहती है। इसीसे वे जिन या जितेन्द्रिय होते है ऐसे साधु महात्मा भावलिंगी मुनि होते हैं। वे यातो उसी जन्मसे या दो चार दस जन्ममें संसारसे मुक्त होजाते है। आचार्यके कहनेका मतलब यह है कि इन सब बातोको वड़ा दुर्लभ व परम उपयोगी समझना चाहिये और जब इनमेसे कोई या सब बातें प्राप्त होजावें तो वड़ा उत्तम समय मानना चाहिये और प्रमाद छोड़कर अपने हितमें दृढ़ रहना चाहिये। जो पुरुषार्थी होते है

वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनंत सुखके अधिकारी होजाते है ।

श्री पद्मनंद मुनि यतिभावनाष्टकमे मुनिका स्वरूप कहते है—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम् ।
नि.शेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम् ।
ये तिष्ठंति मनोमरूच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता ।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिता: ॥१॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतोको लेकर, निर्मलआत्मा के तत्वको समझकर तथा वनमे जाके सर्व ही मोह कर्मके वशसे पैदा होनेवाले अनेक विकारोको छोड करके मन, श्वासोछ्वास और आत्मा तीनोकी निश्चलतामे एकतान होते हुए आनंदको भोगते हुए पर्वतके समान कप रहित रहते हैं वे सर्व परिग्रहके त्यागी निर्ग्रन्थ साधुविनय प्राप्त करते है अर्थात् कर्मोको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परम ब्रह्म होजाते हैं—

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

कुकषाय अरिको चूरना अर सब परिगह त्यागना ।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना ॥
आचार्य पदका सेवना जिनवाणिमें रुचि धारना ।
इन्द्रिय विजय अर त्याग हो ढिग मोक्षका जब आवना ५

उत्थानिका—आगेभावना भाते हैं कि सुख दु.ख आदिमे मेरा भाव समता भाव को भजे क्योकि यही समता निर्जराका कारण है ।

मदाक्रांता ।

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा ।
मूर्खौघे वा बुधसदसि व पत्तने वा वने वा ॥

संपत्तौ वा मम विपदि वा जीवते वा मृतौ वा ।
कालो देव ! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्रदेव ! (मम) मेरा (सकलः) सर्व (कालः) समय (विद्विष्टे वा) मेरेसे द्वेष करनेवालेमे, (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शात भाव रखनेवालेमे, (बांधवे वा) बन्धुमे (रिपौ वा) अर्थात् शत्रुमे (मूर्खौघे वा) मूर्खोंके समुदायमें (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानोकी सभामे (पत्तने वा) नगरमे (वने वा) अथवा जंगलमे (सपत्तौ वा) धनादिकी प्राप्तिमे (विपदि वा) अथवा आपत्तिमे (जीविते वा) जीनेमे (मृतौ वा) अथवा मरनेमे (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वतः) करते हुए (व्रजतु) वीते ।

शिखरिणी छन्द ।

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजनके वा सुहृदि वा ।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृपदि वा॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा ।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते! वाक्यमनघम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिनपते) हे जिनेन्द्र (सुखे वा) सुखमें (दुःखे वा) अथवा दुःखमें (व्यसनजनके वा) आपत्तिमे डालने वाले शत्रुमे (सुहृदि वा) अथवा मित्रमे (गृहे वा) घरमें (अरण्ये वा) अथवा जंगलमे (कनकनिकरे वा) सुवर्णके ढेरमें (दृषदि वा) अथवा पाषाणमे (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तुमे (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तुमें (समधियः) समता बुद्धिको रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या पवित्र

(वाक्यम्) वचनको (स्वान्ते) अपने मनमे (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसा) दिन (यांतु) वीतें।

भावार्थ—इन दो श्लोकोमें आचार्यने सामायिकके स्वरूपको दिखला दिया है। वास्तवमे समताभावको ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असलमें तब ही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखनेसे हरएक पदार्थका मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभावमे देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न २ अवस्थाओं को व पार्थके भेदोको व असली हालतपर पहुचने के साधनोको व उसके अशुद्ध स्वरूपको देखा जा सके। जैन सिद्धांतने यह आवश्यक बताया है कि दोनो नयोसे पदार्थोको देखना चाहिये जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयो यः प्रवुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया सएव फलमविकल शिष्य॥
(पुरुपार्थ०)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोको समझकर मध्यस्थ या वतरागी होजाता है या किसी एक नयके पक्षपातसे रहित होजाता है वही जिनवाणीको समझनेके पूर्ण फलको प्राप्त करना है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POINT OF VIEW) से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पड़ता है। यह राजा है यह रक है, यह स्वामी यह सेवक है, यह धनवान है

यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान् है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वंदनीय है यह वदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बाधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोगहै, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अग्रेज है यह फ्रासीसी है यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रि है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चद्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जंगल है, यह वन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह काच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह स्मशान है, यह फूल है यह कटक, यह शय्या है यह भूमि है, यह चादी है यह लोहा है, यह तावा है यह मिट्टी है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनयकी दृष्टिमे है। यही दृष्टि रागद्वेष मोहका कारण है। जिन चेतन पदार्थोंसे अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बधु, पशु आदिसे अपना स्वार्थ समता है अथवा जिन अचेतन पदार्थोंसे अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन, सामान

आदिसे अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग होता है तथा जिन पुरुषोसे व स्त्रियोसे अपने स्वार्थ साधनमे हानि पडती है अथवा जो घर, वस्त्र, वर्तन या सामान अपने चितको कष्टप्रद भासते हैं उनसे द्वेष पैदा होजाता है। व्यवहारनयकी दृष्टि से देखते हुए अहंकार व ममकार पैदा होते है, मैं राजा हूं, मैं धनवान हूँ, मैं बडा हूँ, मैं दीन हूँ,मैं दुखी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं निरोगी हूँ, मैं सुन्दर , मैं कुरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, इत्यदि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है. यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेराहै, यह ग्रंथ मेरा है, यह मदिर मेरा है इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकारके द्वारा वर्तन करते हुए चारो कषायोंकी प्रबलता होजाती है। कषायोके द्वारा तीव्र कर्मका वध होजाता है और यह मोही प्राणी ससारके झझटोमे व सुख तथा दुखमे उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुखको व अपनी सच्ची शातिको नही पाता है।

निश्चय नयसे देखते हुए ये सव ऊपर लिखित भेद नही दीखते हैं। ये सव भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्योके निमित्तसे हैं। वस जो निश्चयसे देखता है उसे सर्व ही जीव ससारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु, मनुष्य, छोटे, वडे, राजा, रक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्भावमे ही दिखते हैं। सव ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यके धारी परमात्मारूप ही दिखते हैं। आप भी अपनेको परमात्मारूप दिखता है, अन्य सव भी परमात्मारूप दिखते हे। तथा सव पुद्गल स्पर्श, रस, गंधवान अजीवरूप एकसे दिखते है। इस दृष्टिसे देखते हुए ही समताभावकी जागृति होती है, रागद्वेपका अभाव होता है,

शत्रुमित्रकी कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व पदार्थका भेद निकलता है, इष्ठ व अनिष्टका द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभावको पैदाकरती है। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्तीने द्रव्यसग्रहमे कहा है—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

भावार्थ—व्यवहारनयसे १४ मार्गणाके भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इन्द्रियवाला है इत्यादि अथवा १४ गुण-स्थानके भेद कि यह मिथ्याती है यह सम्यक्ती है, यह साधु है यह केवली है इत्यादि ससारी जीवोमें दिखते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे देखते हुए सर्व ही जीवशुद्ध एक रूप परमात्मा हैं। समताभाव लानेके लिए हमको व्यवहारनयसे देखना बन्द करके निश्चयनयसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिकमे तन्मय होते हैं वे उपसर्ग करनेवालेपर व प्रशसा करनेवालेपर समताभाव रखते हैं। वीत-राग भावका साधक निश्चयनयके द्वारा अवलोकन करना है। तत्व विचारके समय आत्मध्यान जमानेके लिए निश्चयनयका आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार कलशमे कहा है—

इदमेव तात्पर्यं हेय. शुद्धनयो नहि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्यागाद्बन्ध एव हि॥

भावार्थ—मतलब यही है कि शुद्ध निश्चयनय भी छोडना न चाहिए क्योंकि जबतक इसका सहारा होगा तबतक कर्मका बध न होगा तथा इस नय के त्याग होते ही कर्मका बध होगा। दोनो श्लोकोमे आचार्यने निश्चयनयको प्रधान करके समताभाव

का स्वरूप दिखलाया है । यह सच्ची तत्त्वभावनाका एक प्रकार है ।

वास्तव मे समताभाव लानेके लिए ऐसी ही भावना कार्य-कारी है । श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पचाशतमें कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्ध ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम् ।
जनयति हेम्नो हैम लोहाल्लोह नर कटकम् ॥१८॥

भावार्थ--जो कोई अपने आत्माको शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है वह शुद्ध आत्माको पाता है तथा जो अशुद्धरूप अपनेको ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्माको पाता है जैसे कोई मनुष्य सोनेसे सोनेका कडा व लोहेसे लोहेका कडा बना लेता है ।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता ।

द्वेषकारी शांतिधारी बंधुमें अर शत्रुमें ।
मूर्खजन वा पडितोमें शुभ नगर वा बनोमें ॥
सम्पत्तिमें वा विपतिमें, वा जन्ममे वा मरणमें ।
हे देव! मेरा काल वीते भाव समता धरणमें ॥६॥
सुखमे वा दु.खमे वा क्लेशकर अरि मित्र मे ।
घरमे अरणमें कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमें ॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो ममदिवस हों समबुद्धिमें ।
हे जिनपते! तव निर्मलं वच सदा धारूं हृदयमें ॥७॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊंची गतिको व नीच कार्यकरनेवाला नीची गतिको जाता है—

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

ये कार्यं रचयति निद्यमधमास्ते यांति निद्यां गतिम् ।
ये वद्यं रचयंति वन्द्यमतयस्ते याति वंद्यां पुन ॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृहं विदधतः कूप खनंतस्त्वधः
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदाः ८

अन्वयार्थ–(ये) जो (अधमा) नीच लोग (निंद्यम्) निन्दाके लायक खराव (कार्यं) काम (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निंद्या) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (याति) पहुंचते हैं (पुनः) परन्तु (ये) जो (वद्यमतयः) प्रशसनीय बुद्धिधारी (वद्य) प्रशंसा के लायक उत्तम कार्यको (रचयन्ति) करते हैं ते, वे (वद्यां) माननीय या उत्तम गतिको (याति) जाते हैं जैसे (सुधागृह) राजमहलको (विदधतः) बनानेवाले (ऊर्ध्वं) ऊपरको (तु) परन्तु (कूपं) कुएको (खनत) खोदनेवाले (अधः) नीचेको (याति) जाते हैं (इति) ऐसा (विबुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखा) पापोंसे मुंह मोडनेवाले (कोविदाः) बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्मं) धर्मको (कुर्वन्ति) साधते रहते है।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरेका जिम्मेदार है। जो जैसा कार्य करता है वह वैसा होजाता है। इस संसारी जीवके पास मन वचन काय ये तीन पाप तथा पुण्यकर्मके आनेके द्वार हैं। जब ये शुभ कार्योंमें वर्तते हैं तव मुख्यतासे पुण्यकर्म आते हैं और जब ये अशुभ कार्योंमे वर्तते हैं तव पापकर्म आते हैं। यह जीव हरसमय अपने शुभ या अशुभ भावोंके अनुसार पुण्य तथा पापकर्मोंको वांधता रहता है। साधारण रूपसे आयुकर्मको छोडकर ज्ञानावरणादि सात कर्मोंको नित्य वांधता रहता है। आयुकर्मको विशेप कालमें अपनी भोगनेवाली आयुके आठ त्रिभागोमेंसे किसीमे या मरणके पहले वांधता है। आयुकर्मके अनुसार ही यह जीव चार गतियोमेसे किसी गतिमें जाता है। एक मानवको

अपेक्षा देवगति ही ऊची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति बराबरकी है । यदि उच्च भाव होगे तो ऊची आयुको नीच भाव होगे तो नीच आयुको, मध्यम भाव होगे तो मध्यम आयुको बांधकर तदनुसार गतिमे जाता है। जो रौद्रध्यानी हिंसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बांध नर्कको, जो आर्तध्यानी दुःखित भावधारी है वह तिर्यंच आयु बांधकर पशु गतिको, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु बाधकर देव गतिको, जो कोमल परिणामी है वह मनुष्य आयु बाधकर मनुष्य गतिको जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यानको आराधता है और गुणस्थानोमें चढ़ता हुआ अर्हंत केवली होजाता है वह कोई भी आयु न बाधकर सब कर्मोसे छूटकर शुद्ध परमात्मा होजाता है । इस लोकमे भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा, आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, परकी बुराई, अन्यायके विषयोमे प्रवृत्ति हिंसककर्म, चोरी, आदि बुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व बुरे समझे जाते हैं ।

यहाँ दृष्टात दिया है कि जो लोग राजमहल बनाते हैं वे दिनपरदिन ऊपरको चढते जाते हैं परन्तु जो कुआ खोदते हैं वे दिनपरदिन नीचे धसते जाते हैं ।

इसलिये बुद्धिमानोको चाहिए कि सदा धर्मके सेवनमें लगे रहे। जो सम्यक्दर्शनपूर्वक धर्मका सेवन करेंगे वे इसलोक तथा परलोक दोनोमे सुख पाएगे ।

वास्तवमे जैनधर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसकी हरएक धर्मक्रियामें आत्माके गुणोका ध्यान आता है । आत्मा सुखशाति मय है, इससे धर्मसेवन करते हुए सुखशाति तो तुर्त प्राप्त होती

है तथा अन्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे आत्मबल बढ़ता है। तथा पापकर्मोंका रस कम होनेसे व पुण्यकर्मोंका रस बढ़नेसे सासारिक क्लेश घटते हैं और सांसारिक सुख बढ़ते हैं, तथा तीव्र आपत्ति पड़नेपर धैर्यकी प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीरमें रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिए जो धर्मका सेवन करते हैं वे परलोकके लिए उत्तम आयु बाधकर शुभ गतिमें जाते हैं, ऐसा सलभ्ककर हम सबको इस पवित्र जैन धर्मको शरणमें सदा रहकर व इसे निरंतर आराधनकर इसलोक तथा परलोकको प्रशंसनीय बनाना चाहिये—

श्री शुभचन्द्राचार्य श्री ज्ञानावर्णवमे लिखते हैं—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट—
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ॥
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानी।
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥२३॥

भावार्थ—यदि तुझे नरकमे जानेसे रुकना अति प्यारा है, व यदि तू इन्द्रकी महा विभूतिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारो पुरुषार्थोंमेंसे अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थको करना चाहता है तो तुझसे और अधिक क्या कहे तू एकमात्र धर्म ही का साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

जो निंद्यजन दुष्कर्म करते निन्द्य गतिमें जात हैं।
जो सन्तजन शुभ कर्म करते उच्च गतिको पात हैं॥

अरु राज्य गृह रच उच्च जाते कूप खनते नीच हों ।
हम जान बुधजन धर्म सेवें पापसे भयभीत हों ॥८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो लोग शरीरके सुखके लिये कुचेष्टा करते है वे अथ शक्तिको नष्ट करते हैं—

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरीः कुर्वंति चित्तेऽधमा ।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनीः ॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद—
स्तत्रामी बत ! कुर्वते किमधियः पापोद्यमं सर्वदा ॥९॥

अन्वयार्थ—(अक्षवशगाः)इन्द्रियोंके वशमें पडे हुए (अधमाः) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीरके (सौख्य) सुखको (चिकीर्षवः) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरी) मन और शरीरको बाधा देनेवाली तथा (लोकद्वयविध्वंसिनी.) इस लोक व परलोक दोनों को बिगाड़नेवाली (चेष्टा) क्रियाएं (चित्ते)अपने मनमे (कुर्वंति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस ससारमें (स कायः) वही शरीर (यथा) जैसे (शारदः) शरद ऋतुका (मेघो) मेघ विघट जाता है तैसे (शतधा) सैकडों तरहसे (विशीर्यते) नष्ट हो जाता है (तत्र) तिस ससारमे (अमी) ये (अधिय.) मूख लोग(किं)क्यों(सर्वदा) सदा (पापोद्यम) पापका उद्यम (कुर्वते) करते रहते हैं (बत!) यह बड़े खेदकी बात है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि जो पुरुष मिथ्या दृष्टी बहिरात्मा हैं अर्थात् जिनको आत्मीक सच्चे सुखका पता नही है वे शरीरके सुखको सुख मानते हैं वे इन्द्रियोंके दास होजाते हैं । और इन इंद्रियोंके द्वारा जो नानाप्रकारकी इच्छाएं पैदा होती हैं उनहीको पूरा करनेके लिये रात दिन उद्यम करते

रहते हैं । वे धनके पिपासु होकर, किसीको सताकर, झूठ बोलकर, चोरी करके, विश्वासघात करके धन कमानेमे ग्लानि नही मानते, उनको अपनी स्त्री व परस्त्रीका विवेक नही रहता है, वे भक्ष्य व अभक्ष्यके विचारसे शून्य होजाते हैं। जिसतरह इंद्रियोकी तृप्ति हो उसी तरह वर्तन करना उनके जीवनका ध्येय वन जाता है। उनको मास व मदिरासे भी परहेज नही रहता है। उनको जो जो क्रियाए होती हैं वे सव हानिकारक होती हैं। इंद्रियोकी लम्पटतासे विवेकशून्य हो, चाहे जो कुछ खा पी लेते है और वे रोगोके शिकार होजाते है, अधिक विषयभोगसे निर्वल होजाते है । फिर तो उनको शरीर सम्वन्धी और मन सम्वन्धी महान् कष्ट होते है। उस समय उनके मनकी आकुलताको समझना एक अनुभवी मानवका ही काम है। इंद्रियोके भोगोकी चाहना रहनेपर भी वे विचारे इंद्रियोंका भोग शरीरकी निर्बलता व रोगके कारण नही कर सकते। आर्तध्यानमे मन दु खित रहता है। यदि कदाचित् थोडी भी मुक्ति रोगसे होजाती है कि फिर अन्धे हो विषयोके वनमे पागल हो दौड़ते है, फिर अधिक रोगी होजाते है। भावोमे तीव्र विषयवासनासे, व हिसा, झूठ, चोरी कुशील तथा तीव्र शरीरकी व धनकी व विषयभोग योग्य पदार्थोकी ममतास अशुभ उपयोगमे फंसजाते है। यह अशुभ उपयोग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,अन्तराय औरमोहनीय कर्मका तीव्र बंध करता है, साथमें असाता वेदनीय, अशुभनाम व नीच गोत्रका बंध हो

जाता है तथा जब आयुकर्मके बधका अवसर आता है तब यह प्राणी नरक व पशु आयुको बाध लेता है। एक न एक दिन चाहकी दाहमे जलता हुआ शरीर त्यागता है और नारकी या पशु या एकेंद्रिय जीव पैदा होजाता है। इसतरह विषयलम्पटी प्राणी अपने इस अमूल्य शरीरको नष्ट करते हुए इस लोकमे दुखी व अपयशके भागी होते है और परलोकमे कुगतिके अधिकारी होते है। आचार्य खेद करते है कि ऐसे अज्ञानी लोगोको क्या यह मालूम नही है कि यह शरीर शरदऋतुके मेघोकी तरह नष्ट होनेवाला है, यह स्थिर रहनेका नही है। जैसे मिट्टीका घडा थोडीसी ठोकर लगनेपर टूट जाता है ऐसे ही यह शरीर आयु-कर्मके क्षयसे कभी तो पूरी आयु भोगकर कभी अकालमे ही छूट जाता है, तब पछताता हुआ चला जाता है। तब वे कोई भी सचेतन या अचेतन पदार्थ इसका साथ नही देते हैं जिनके ऊपर ये अपने सुखका आधार रखता था।

थोडीसी मनुष्यायुमे पापोका उद्यम करके इसलोक और पर-लोकको बिगाडकर वे मूर्खजन, अपना घोर अहित करलेते है। आचार्य सचेत करते है कि हे जीवो ! यदि तुम इंद्रियोके दास न होकर उनको अपने वशमे रखते और अपनी बुद्धिबलसे अपने आत्माको समझ लेते तो तुम्हें आत्माके भीतर रहे हुए सुख समु-द्रका पता लग जाता जिसमे स्नान करनेके लिये किसी परपदार्थ की जरूरत नही रहती है। यदि आत्माको समझ लिया जाता तो जगतकी आत्माओंसे प्रेम पैदा होजाता तब यह हिंसादि पापामे स्वय नही प्रवर्तता किन्तु जीवदया व परोपकारभावमे वर्तता हुआ पुण्यकी कमाई करता—इस नश्वर शरीरसे आत्मोन्नति कर

जाता । यहां भी सुखी रहता और परलोकमें भी शुभ भावोंसे शुभ गति पाता है । बुद्धिमानोंको खूब सोच विचारकर इस शरीरका उपयोग कुचेष्टाओमे न करके सुकर्म में करना चाहिये । जिससे यह मानवजीवन स्व पर उपकारी बनकर अपना समय सफल कर सके ।

श्री अमितिगति आचार्य सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं कि इंद्रियसुखोमे लीनता महान मूर्खता है ।

> नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं ।
> तत्वं विविक्तभवगम्यजिनौशिनोक्तम् ॥
> य. सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य ।
> हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः ॥६५॥
> दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां ।
> धर्मं धुनाति विदधाति विनिन्द्य कर्म ॥
> रेकश्चिनोति कुरुतेऽति विरुपवेषं ।
> किं वा हृषीकवसतस्तनुते न भर्त्यः ॥६६॥

भावार्थ—जो अज्ञानी जिनेन्द्रके कहे हुए उस आत्म स्वरूपको जो सर्व परभावोसे रहित है व जो नाना प्रकार आपत्तियोकी धूलके ढेरको उड़ानेके लिए पवनके समान है, भलेप्रकार समझकर विषयोके सुखको सेवता है वह मूर्ख हाथमे आए हुए अमृतको छोड़कर भयानक विषको पीता है । जो इन्द्रियोका दास होजाता है वह दूसरोकी चाकरी करता है, नीचोंकी सेवा करने लगता है, धर्मको नाश कर देता है, हिंसादि निन्धकर्मको करने लगता है, पापोको संचय करता है, अपना रूप अति कुरूप कर लेता

है । अधिक क्या कहे इंद्रियोके वशमें पडा मानव क्या२ अनर्थ नही कर लेता है ? वास्तवमें जो इंद्रियोका दास है वह पशुसे भी निकृष्ट है । मानव ही वह है जो इंद्रियोको काबूमें रखकर अपना जीवन सुकार्योमे विताकर सफल करता है ।

मूलश्लोकानुसार गीता छन्द ।

जग नीच जन हो दास इन्द्रिय काय सुखको चाहते ।
इस लोकद्वयको नाशकारी कर्म निन्द्य रचावते ॥
बहु काय मन पीड़ा सहें सो काय शारद मेघ सम ।
यह नष्ट होती हा ! कुधी नित पाप करते है अधम ॥९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहमें अन्धी हुई बुद्धि ससार बढानेवाली और मोक्षको बहुत दूर रखनेवाली है ।

कातेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा ।
जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम् ॥
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी ।
तावद्गच्छति निर्वृंति बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनी ॥१०॥

अन्वयार्थ—(इयं) यह (कांता) स्त्री है (अयं) यह पुत्र है (अयं) यह (सुहृत्) मित्र है (इयम्) यह (माता) मां है (एषा) यह (स्वसा) वहिन है (इय) यह (जामा) पुत्री है (एषः) यह (रिपु) शत्रु है (इदं) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म) घर है (एतत्) यह (वनं) बाग है (यावत्) जबतक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (ससारसर्वर्द्धनी) संसारको बढ़ानेवाली (बुद्धिः) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तबतक (कुतः) किस तरहसे (दु:खद्रुमोच्छेदिनी) दु खरूपी बृक्षोंको

छेदनेवाली (निर्वृ ति) मुक्तिको (गच्छति) यह जीव पहुँच सकता है (बत) यह वड़े खेदकी वात है।

भावार्थ—यहांपर आचार्य खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोही जीव मोहमे फसकर अपने स्वरूपको भूल जाता है इस लिये अनन्त सुखको देनेवाली मुक्तिको कभी नही पासकता है। वास्तवमे मुक्ति अपने सच्चे आत्माके स्वभावकी प्राप्ति है और वह अपनेसे ही अपनेको अपनेमे ही प्राप्त होती है। जिसका उपयोग अपने आत्माके स्वभावके सन्मुख होगा वही आपको पाएगा, परतु जिसका उपयोग अपने आत्माको छोड़कर परपदार्थो मे रमता है वह कभी भी अपने स्वरूपको नही पासकता है। ससारका कारण मोह है, जब कि मुक्तिका कारण निर्मोह है। मोही जीव क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोके वशीभूत पड़े रहते हैं, इसीलिये कर्मको बाधकर ससारकी चारो गतियोमे भ्रमण किया करते हैं। मोही जीवोको अपने अत्माका अपने शरीरसे भिन्न विश्वास नही होता है। वह शरीरको ही आपा माना करते हैं। शरीरकी ममतासे वे पांचों इद्रियोकी इच्छाओके दास होजाते हैं। उन इच्छाओकी पूर्ति करनेमे जो चेतन व अचेतन पदार्थ सहकारी हैं उनहीसे गाढ प्रीतिवान होजाते हैं। इसलिये शरीरके जितने सम्बन्ध हैं उनको अपना सम्बंध समझ लेते हैं; पुत्र, पुत्री, मित्र आदिके मिलनेमे हर्ष व उनके वियोगमे विषाद किया करते हैं। एक कुटुम्बमे जीव भिन्न २ गतियोसे आकर जमा होजाते हैं वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी २ बाधी गतिके अनुसार चले जाते हैं। धर्मशालामे यात्रियोंके समागमके समान कुटुम्बीजनोका समागम है। मोही जीव उनसे गाढ मोह करके अपने स्वात्माको भूल जाते हैं। इसी लिये आचार्यने बताया है कि जबतक इन भिन्न पदार्थोमें ममकार है

कि यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह घर मेरा है, यह देश मेरा है, यह नगर मेरा है, वहां तक मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव मेरा है, मेरा पद सिद्धपद है, मेरी परिणति शुद्ध वीतराग है यह बुद्धि नही जमती अर्थात् भेद विज्ञानको न पाकर वे कभी भी आत्माके श्रद्धावान नही हो पाते। वे उन्मत पुरुषकी नाई जगतमे चेष्टा करते हुए अनंतकाल खोया करते हैं। इसलिये श्री अमितिगति महाराजका तात्पर्य यह है कि अब तो तुम समझो, अब तो परपदार्थोंको अपना मानना त्यागो तथा अपने आत्मीक शुद्ध गुणोको अपना मानो। जिससे निज आत्माका अनुभव प्राप्त हो, यही तत्वभावनाका फल है।

अनित्यपचाशत्में श्री पद्मनदि मुनि कहते हैं—

दु खव्यालसमाकुलं भवबन जाड्यांधकाराश्रितं ।
तस्मिन्दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यंति सर्वेगिन: ॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं ।
प्राप्यालोक्य च सप्तय सुखप्रद याति प्रबुद्धो ध्रुवं ॥१७॥

भावार्थ—यह संसाररूपी बन दु:खरूपी अजगरो (सर्पो) से भरा हुआ है, यहा अज्ञानरूपी अधकार फैला हुआ है। इस वनमें दुर्गतिरूपी भीलोकी तरफ लेजानेवाला खोटा मार्ग है। ऐसे वनमे सर्व ही संसारी प्राणी भ्रमण किया करते है। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वनके मध्यमें गुरुके वचनरूपी दीपकको, जो निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे चमक रहा है, पाकरके सच्चे मार्गको ढूंढ़कर अविनाशी आनन्दमई पदको पहुंच जाता है॥

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यह नारि पुत्र सुमित्र माता है हमारी यह बहन।
पुत्री अरी यह घर नगर मेरा यही है सार बन॥
जबतक रहे यह नीच मति ससारका वर्द्धन करे।
तब दु.खतरु हन्त्री मुकति तिय किस तरह सुखसे वरे॥१०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही मुक्ति हो सकती है।

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिम्॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः॥११॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेक्षणालंकृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभावसे शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमिति) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मके समुदायको दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर (कश्चन) कोई भी (पर.) अन्य (भाव.) भाव (मे) मेरा (न) नही (विद्यते) है (न) और न (अहं) मैं (कस्यचित्) किसी अन्यका (अस्मि) हूं (एषा) ऐसी (मतिः) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्वस्थितेः) आत्मस्वरूपकी मर्यादाको जाननेवाले 'यस्य' जिस किसीके (चेतसि) चित्तमें (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती है (तस्य। उस महात्माके (बंधः न) कर्मोंका बध नहीं होता, यों तो (त्रिभुवनं) तीनो लोकके संसारी प्राणी (सासारिकैः बन्धनैः) संसारके बंधनोंसे (यंत्रितं) जकड़े हुए हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञानकी

महिमा बताई है। इस जगतमे यह संसारीप्राणी जीव पुद्गलका मिला हुआ एक आकार रखता है। अनादि कालसे ही इसके कर्मोका बंध होता ही रहता है। कर्मोके उदयसे रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते हैं तथा कर्मोके ही उदयसे शरीर होता है व शरीरके साथी स्त्री पुत्रादि नौकर चाकर होते हैं। कर्मोके बड़े विकट फैले हुए जालके भीतर इतना सघन आत्माका स्वरूप फस जाता है कि तत्त्वज्ञान रहित प्राणिओको आत्माका ज्ञान व श्रद्धान नही होता। हरएक तत्त्वज्ञान रहित मानव या जीव पर्यायबुद्धि बना रहता है। जिस शरीरमें होता है उसी रूप अपनेको मान लेता है। कभी भी अपने असली आत्मस्वरूपको नही पाता है। इसीलिये इन्द्रियोके सुखोमे मग्न होकर रात दिन इन्द्रियसुखकी चेष्टा किया करता है तथा तीव्र रागद्वेष मोहमे पडकर तीव्र पाप कर्म बाधकर पशु आदि गतियों मे भ्रमण किया करता है। वास्तव मे कर्मबधका मूल कारण मिथ्यात्व है। ससारकी जड ही मिथ्यात्व है। जिसने अनंतानुवन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्वको वश कर लिया है उसने संसार वृक्षकी जड काट डाली है। उसने जो कुछ कषायोके शेष रहनेसे कर्मका बध होता भी है वह ससारके भ्रमणको अनतकालीन नही कर सकता है। वह बन्धन अवश्य शीघ्र कट भी जायगा। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि ससारमे लिप्त नही होती है। क्योकि उसके अंतरगमे यह भेद विज्ञान भले प्रकार जाग्रत है कि मेरे आत्माका स्वभाव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अमूर्तीक अविनाशी है। कोई भी रागादि भाव आत्मा का स्वभाव नही है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न पदार्थ हैं, इस जगतमे परमाणु मात्र भी मेरा

नहीहै, मेरा स्वरूप सर्व अन्य आत्मद्रव्योसे भी निराली सत्ताका रखनेवाला है, मेरेमे अपने द्रव्य, क्षेत्र,काल, भावका तो अस्तित्व है परन्तु परद्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व है। इस भेद विज्ञान के कारणसे वह सदा आतमसुखके स्वादका उत्सुक रहता हुआ अपने आत्माका मनन किया करता है। इसलिए उसका आत्मा संसारके बढानेवाले कर्मोसे गाढ बन्धनमे नही पड़ता है। आचार्य ने प्रेरणा की है कि ये भव्यजीवो! यदि तुम समताभावको पाना चाहते हो तो इस भेद विज्ञानका भले प्रकार अभ्यास करो, यही स्वानुभवको जगानेवाला है।

एकत्वअशीतिमे पद्मनद मुनि कहते हैं—

हेयं हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिन.।
उपादेयं पर ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्।
यदेवचैतन्यमहंतदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकतां परम्॥७५-७६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषोको उचित है कि रागादि सब कर्मोको त्यागनेयोग्य समझकर इनसे मोह छोड़ दे और ज्ञानदशन मई उपयोग लक्षणके धारी परमज्योतिरूप आत्माको जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करले। जो कोई चैतन्यमई है वही मैं हूँ, वही जानता है, वही देखता है, वही निश्चयसे एक उत्कृष्ट पदार्थ है' मैं उसीके साथ परम एक भावको प्राप्त हो गया हूँ। इस प्रकार की भावना ही स्वानुभवको उद्योत करनेवाली हैं।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

मैं नियत दर्शन ज्ञानमय नहि कर्म बंधन राखता।
मै तो किसीका हूँ नही परभाव मम नहिं छाजता॥

सद्‌बुद्धि ऐसी चित्त जिसके तत्त्व निज पहचानता।
वह बंधमें पड़ता नही जग जंतु बंधन ठानता ॥११॥

उत्थानिका—फिर भी उपदेश करते हैं कि संसारके मोहमें न पडके आत्मकल्याण करो।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निज कर्मपूर्ववशगा. केषां भवन्ति स्फुटं।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता।१२।

अन्वयार्थ-(यत्र) जिस ससारमे (चित्रोपायविवर्धितः) अनेक उपायोसे पालनपोषण करके बढाई हुई(अपि)भी(निजदेहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मनः न) अपनी नही होती है (तत्र) वहां (निजपूर्वकर्मवशगः)अपने २ पूर्वमे बांधे हुए कर्मों के वश पड़े हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावाः) बिलकुल जुदे पदार्थ (केषा) किन जीवोके (स्व) अपने(स्फुट) प्रगटपने (भवन्ति) हो सकते हैं (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके(मनीषिणा) बुद्धिमान मानवको (सदा) सदा (निजमतिः) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपने आत्मामे स्थिर (कार्या) करनी उचित है।

भावार्थ-यहाँ फिर आचार्यने जगतके सम्बन्धको नाशवन्त झलकाया है। जगतके मोही प्राणी अपने इन्द्रियोंके विषय भोग मे सहकारी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकोंसे राग करते हैं व जो बाधक हैं उनसे द्वेष करते है। ये सब सचेतन पदार्थ बिलकुल हमसे जुदा है, ये सब अपने २ भिन्न २ कर्मोको बांधकर भिन्न भिन्न गतियोसे आए हैं और इस जन्ममे भिन्न २ कर्म बाधकर

भिन्न २ गतियोंको जायगे। इनको अपना मानना महान मूर्खता है। ये सब कुछ सम्बन्ध रखते है तो वह सम्बन्ध इस शरीरके साथ है। शरीरके उत्पन्न करनेवालेको माता पिता कहते हैं। एक माताके पुत्र पुत्रियोको भाई बहन कहते है, शरीरको ही देखकर ये सब जगतके पुजारी अपने २ स्वार्थोंके वश होकर हमारी देहसे प्रीति दिखलाते हैं। जब हमसे स्वार्थ नही निकलता है तब बात भी नही पूछते हैं। आचार्य कहते हैं कि इन पदार्थों के स्नेह टूटनेकी व छूट जानेकी बात क्या करते है। ये तो प्रगट ही जुदे हैं। अरे! यह शरीर जो जन्मसे मरणतक साथ रहता है और जिसको नाना प्रकार भोजन पान देकर खिलाते पिलाते, सुलाते, पहनाते, उठाते, पालते व जिसके लिये पैसा कमाते व रात दिन उसीकी ही चितामे लगे रहते कि कही यह बिगड न जावे, ऐसा शरीर भी एक क्षणमात्रमे हमे छोड़ देता हैं। आयुकर्मके आधीन देहका सम्बन्ध है। आयुकर्मका नाश होते ही एक समयभर भी यह शरीर आत्माका साथ नही दे सकता। तब जो लोग इस देहके साथ व देहके सम्बन्धी स्त्री पुत्रादिके साथ ऐसी दोस्ती बाधते हैं कि मानो हम इनके हैं व ये हमारे हैं वे लोग अवश्य मूर्ख हैं क्योकि इनके मोहमे अन्धे हो वे अपने आत्माके हितको भूल जाते हैं। वे कभी दिन रातमें एक क्षण भी आत्माके हितका चिन्तवन नही करते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि यदि तुम चतुर मनुष्य हो तो नाशवन्त पदार्थोंसे क्यो स्नेह बढाकर अपना बुरा करते हो? इन पदार्थों का सम्बन्ध यदि है तो इनसे अलिप्त रहते हुए इनसे अपना प्रयोजन साधलो व उनका यथासम्भव उपकार करदो। परन्तु उनके साथ भीतरी प्रीति न रक्खो, इनकी प्रीति अन्तमें धोखा देनेवाली

होगी, इनकी प्रीति शोकसागरमे डुबानेवाली होगी । क्योकि ये सब पदाथ एक दिन छूट जाएगे या हम छोड़ेंगे या वे छोड़ेंगे । खास ध्यान अपने आत्माकी तरफ रक्खो । हमे उचित है कि हम अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको जो निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनन्दमई है पहचानें, उसपर विश्वास लावे व उसीका ध्यान करे तो हमको सुख व शातिका लाभ होगा और हम जो आज अपवित्र हैं वे धीरे २ पवित्र होते चले जायेंगे । वास्तवमे आत्माकी प्रीति हमको पवित्र करनेवाली है और शरीर की व शरीरके सम्बन्धियोकी प्रीति हमें अपवित्र करनेवाली हैं ।

सुभाषितरत्नसंदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत—
त्किमथ परमदु खं सस्पृहत्वं यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये ।
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—इस संसारमे परम सुख क्या है तो वह एक इच्छा-रहित पना है तथा परम दुःख क्या है तो वह इच्छाओका दास हो जाना है । ऐसा मनमे समझकर जो पुरुष सर्वसे ममता त्यागकर जिनधर्मको सेवन करते हैं वे ही पुण्यात्मा व पवित्र हैं । शरीर व शरीरके सम्बधियोके सबंधमें चिता करना इच्छाओके पैदाकरने का बीज है, इनसे मोह त्यागनाही इच्छाओके मिटानेका बीज है ।

मूल श्लोकानुसार त्रिभगी छन्द ।

बहु यत्न कराए वर्द्धन पाए देह न थाए जहं अपनी ।
तहं पुत्र कलत्रं पुत्री मित्रं जामात्रं भगिनी जननी ॥

निज कर्म बसाए सुख दु.ख पाए होत सदा ये नहि अपने।
इम जान सुबुद्धी आतम शुद्धी कर निज बुद्धी प्रगटपने ॥

उत्थानिका – आगे कहते हैं कि धर्म ही जीवका परममित्र है—

दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने यो दुर्निवार· पविः।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे य. सर्वसाधारणः।
यो नि.शेषशरीररिक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृतः।
सर्वज्ञेन निवेदित. स भवतो धर्मः सदा नोऽवतु ॥१३॥

अन्वयार्थ – [य] जो [दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने] कठिनता से नाश करने योग्य बड़े कठोर कर्मरूपी पर्वतोको चूर्ण करनेमें [दुर्निवार.] किसीसे हटाया न जासके ऐसा [पवि] वज्र है [य.] जो [दुस्तरजन्मसिंधुतरणे] कठिनतासे पार होने योग्य ऐसे संसार समुद्रसे पार लेजानेमे [सर्वसाधारण.] सर्व जीवोके लिये एकरूप सामान्य [पोत:] जहाज है [य:] जो [नि शेषशरीररिक्षणविधौ] सर्व शरीरधारी प्राणियोकी रक्षा करनेमे [पिता इव] पिताके समान [शश्वत] सदा [आहृत] माना गया है [स.] वह [सर्वज्ञेन] सर्वज्ञ भगवानसे [निवेदित·] कहा हुआ [धर्म:] धर्म [न] हमे [भवत:] संसारसे [सदा] हमेशा [अवतु] रक्षित करे।

भावार्थ—यहां आचार्यने जिनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है। असलमें जो जिनधर्मकी शरण ग्रहण करते है उनकी सदा रक्षा होती है। जैनसिद्धांतने बताया है कि जब इस जीवके शुद्ध वीतराग भाव होते है तब तो कर्मोकी निर्जरा होती है तथा जब शुभ भाव होते हैं तब पुण्य कर्मका बंध होता है। पुण्य बंध दु खोसे बचाता है तथा वीतराग भाव कर्ममलको हटाकर मुक्तिमें पहुँचता

है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र मई निश्चय रत्नत्रय को जो स्वानुभवरूप है जैनधर्म कहते है। यह स्वानुभव परम वैराग्यमई है। यहां रागद्वेषसे रहित समतामय भाव है। इस स्वानुभवमे रुकी हुई परिणतिको वीतराग भाव कहत हैं तथा स्वानुभूतिकी रुचि रखते हुए स्वानुभूतिके कारणरूप अर्हंत, सिद्ध आचार्य,उपाध्याय तथा साधु इन पंचपरमेष्ठियोकी भक्ति करना शास्त्र विचारकरना आदि कार्योमे राग भावको शुभोपयोग कहते है। यह जैनधर्म परम कल्याणकारी है। इसी स्वानुभव रूप जैन-धमकी शक्तिसे चार घातिया कर्म नाश होजाते हैं और यह जीव केवलज्ञानी परमात्मा होजाता है। इसलिए यह धर्म पर्वतोके चूर्ण करनेको वज्रके समान है। यह ससार—समुद्र रागद्वेषके जलसे भरा हुआ है। इनमे अनेक विभावरूपी लहरें उठ रही हैं इससे पार होना बहुत कठिन है परन्तु जिनको वीतरागमय और ज्ञान-मय धर्मरूप जहाज मिल जाता है वे इसके पार होजाते हैं, यह जहाज सर्व साधारणके लिए है। किसीको इसपर चढनेकी मनाई नही है। जो संसार—समुद्रसे तर जानेके लिये दिलमें पक्के उत्साही है उनको यह धर्मरूपी जहाज शरण देता है। क्योकि यह जैनधर्म अहिंसा धर्मके व्याख्यानमे त्रस स्थावर सर्व प्राणी मात्रकी रक्षाका उपदेश देता है व पूर्ण अहिंसाधर्मके धारी साधु तदनुसार वर्तते हुए सर्व जीव मात्रकी रक्षा करते है। अतएव उनका वर्तन पिताके समान होता है इसलिए यह जैनधर्म भी प्राणियोकी रक्षाके उपाय वतानेके कारणसे पिताके समान है। ऐसे पवित्र जैनधर्मकी जो सेवा करेंगे वे दु.खोसे बचकर उन्नति करते २ परमात्मापदमें अवश्य पहुँच जाएंगे। धर्मकी महिमा

श्री शुभचन्द्रजीने ज्ञानावर्णवमे इस भांति कही है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

धर्मः शर्मभुजंगपुंगवपुरीसारं विधातुं क्षमो ।
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ।।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम् ।
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ।।२२

भावार्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोको धर्णेन्द्रपुरीके सार सुख के प्राप्त करानेको समर्थ है। यह धर्म मध्यलोकके महान चक्रवर्ती आदिके सुखोको देनेवाला है, यही धर्म स्वर्गको निरन्तर रहने वाले सुखोके प्रगट करानेका उपाय है, यही धर्म प्राणीको मुक्ति-रूपी स्त्रीके भोगने योग्य वना देता है। धर्म हमारा क्या क्या उपकार नही करता है ? वास्तवमे जिनधर्मका स्मरण तत्त्व-भावना है। इसभावनाको कभी नही भूलना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

परम कठिन कर्म शैलदलने सुवज्रं ।
दुस्तर भवसिधुं तारणे सारपोतं ।।
सकलजगतसत्त्व रक्षकर्ता पितासम् ।
जिनकथित धर्मं रक्ष भवसे सदा हम ।।१३।।

उत्थानिका—आगे जिनवाणीसे प्रार्थना करते हैं—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम् ।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः ।।
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं ।
दत्वा ज्ञान विशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिद्यं पदं ।।१४।।

अन्ववार्थ—(मया) मेरेसे (यत् किंचित्) जो कुछ (मात्रापद-वाक्यवाच्यविकल) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थमे कम बढ (भाषितम्) कहा गया हो (तत् अखिल) उस सर्वको (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मन) क्रोधादि कषाय, गर्व, व विषयोकी चाहनामे आसक्त (अस्य बालस्य मे) ऐसा जो बालक समान मैं उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्रके मुखकमलमें निवास करनेवाली (वाग्देवी) सरस्वतीदेवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमा) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धि) ज्ञानकी निर्मलताको (दत्वा) देकर (अनिद्य पद) परम प्रशसनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

भावार्थ—यहापर आचार्यने दिखलाया है कि जिनवाणीको शुद्ध ही पढना चाहिये और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिये फिर भी यदि कभी प्रमादसे कुछ भूल होगई हो, किसी वचनको कमबढ कह दिया हो तो उसके कारण जो पापबध हुआ हो उसको दूर करनेकेहेतुसे यह भव्यजीव प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप करता है जिनवाणी मुझपर क्षमा करे यह मात्र भक्ति करनेका व उच्च भावना भानेका एक प्रकार है जिससे भावोमे यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध हीपढना चाहिये। फिर वह जिनवाणीको हृदयमें धारकर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हूँ इसीसे क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोके वशीभूत होजाता हूँ या पाचो इन्द्रि-योके विषयोमे आशक्त होजाता हूं जिससे मेरे भावोमे अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मोका बध कर लेता हूं। अब मैं यह प्रार्थना करता हूं कि जिनवाणीके निरन्तर मननसे यह मेरी कलुषता मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्माको प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा करे जिससे मैं अविनाशी निजपदको पासकू, जहा कोई कर्म

ग सम्बन्ध नही रहता है और यह आत्मा स्वय परमत्मा होजाता
। वास्तवमे सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी जीवको वीतराग भावकी ही
ाप्तिका यत्न करना चाहिये । यह वीतरागता उसी समय प्राप्त
ोती है जब विषय कषायोंसे ग्लानि होजावे और शुद्ध चैतन्य
वरूप आत्मासे प्रीति बढ जावे । क्योकि आत्माका स्वभाव ही
रम वीतरागमय है इसलिये आत्माके ध्यानसे स्वयं वीतरागता
झलक जाती है और तब सुखशातिकी प्राप्ति होती है, पिछला
र्म कटता है । असलमे आत्माकी भूमिमे चलना ही जीवका
रम हित हैं ।

श्री पद्मनंदी मुनि निश्चयपंचाशत्मे कहते हैं—

स्वपरविभागावगमे जायते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वय सिद्धः ॥४२॥

भावार्थ—जब आपा परका भेदरूप ज्ञान भलेकार पैदा हो-
ताहै तबपरसे मोह छोड़नेपर यह स्वयसिद्ध आत्मा स्वाभाविक
क ज्ञान स्वरूपमे ठहर जाता है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

कथन किया जो मैं शब्द पद अर्थहीन ।
विषय विमोही हो क्रोध मानाद्यधीनं ॥
जिनमुखते प्रगटी वाणिदेवी क्षमाकर ।
वर निर्मलज्ञानं देय शिवपद कृपाकर ॥१४॥

उत्थानिका—आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान
होने पर भी विषयोसे क्यो विरक्त नही होती है—

नि.सारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः ।
निंद्यस्थानभवार्तिभावजनका. विद्याविदां निंदिता ॥

नेत्थं चिंतयतोपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगत: ।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढ़: प्रपद्ये विधिम् ।।१५

अन्वयार्थ–(भोगा:) ये इंद्रियोके भोग (नि.सारा:) असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृणके समान है(भयदायिन:)भय को पैदा करनेवाले है (असुखकरा) आकुलता भय कष्टको उत्पन्न करनेवाले है व (सदा) सदा ही (नश्वरा.) नाश होने वाले है (निंद्यस्थानभवार्तिजनका:)दुर्गतिमे जन्म कराकर क्लेश को पैदा करनेवाले हैं तथा (विद्याविदां) विद्वानोके द्वारा (निंदिता) निंदनीक है (इत्थं) इसतरह (चिंतयत· अपि) विचार करते हुए भी (मे) मेरी (मति.) बुद्धि (बत) खेदकी बात है कि (भोगत) भोगोसे (न) नही (व्यावर्तते) हटती है तब (अह) मै (मूढ) बुद्धि रहित (कं) किसको (पृच्छामि) पूंछू (कम्) किसका (आश्रयामि) सहारा लूं (कम्) कौनसी (विधिम्) तदवीर (प्रपद्ये) करूं ।

भावार्थ–इस श्लोकमे एक श्रद्धावानजैनी अपनी भूलको विचारते हुए अपने कषायोके जोरको कम कर रहा है। इस जीव के साथ मोहकर्मका वन्ध है। मोह ही उदयमे आकर जीवको बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो नकरने योग्यकार्य कर लेता है। मोहकर्मके मूल दो भेद हैं—एक दर्शन मोह, दूसरा चारित्र मोह, दर्शनमोहके उदयसे आत्माको अपने आपका सच्चा विश्वास नही होपाता है। चारित्रमोहका उदय आत्मामे ठहरने नही देता है अपनेआत्माके सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थोंमे राग द्वेष करा देता है। इसके चार भेद हैं—अनन्तानु. बन्धी कषाय, जो श्रद्धानके बिगाड़नेमें दर्शनमोहके साथी हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय होनेपर श्रद्धान होनेपर भी एक देश भी त्याग नही किया जाता अर्थात् श्रावकके व्रत नही लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदयसे पूर्ण त्याग कर साधुका आचरण नही पाला जाता है। सज्वलन कषाय—जो आत्मज्ञानको नाश नही कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते हैं, जो पूर्ण वीतरागताको नही होने देते। जिस किसी महान पुरुषके अनन्तानुवन्धी कषाय और दर्शन मोहके दवनेसे सम्यग्दर्शन होगया है वह पुरुप यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषयभोगोसे कभी भी इस जीवको तृप्ति नही होती है। उल्टी तृष्णाकी आग वढती हुई चली जाती है, इसीलिए ये भोग असार हैं, फल कुछ निकलता नही, तथा भोगोके चले जानेका व अपने मरण होनेका भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हो व मैं कही मर न जाऊं। तथा इन भोगोकी प्राप्तिके लिए व उनकी रक्षाके लिये बडा कष्ट उठाना पडता है और यदि कोई भोग नही रहता है तो यह प्राणी आकुलतामे पड़कर दुखी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले हैं। यातो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड देंगे। तथा इनके भोगनेमें बहुत तीव्र राग करना पडता है जिससे दुर्गति होजाती है तथा इसीलिए इन भोगोको विद्वानोने निन्दायोग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचन्द्राचार्यने भी ज्ञानार्णवमे कहा है—

अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महेन्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिना॥१३॥

विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥
यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासंतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वांछित नृणाम् ॥२४

भावार्थ—जिनेन्द्रोने कहा है कि इंद्रियोसे होनेवाला सुख कभी तृप्ति नही देता है। यह तो मोहकी दावानल अग्निके बढ़ानेको महान ईंधनका काम करता है। यह असाताकी परिपाटीका बीज है। इससे आगामी दु.ख मिलता ही रहता है। यह इंद्रिय सुख विघ्नोंका बीज है। सेवते २ हजारों अतराय पड़ जाते हैं, आपत्तियोंकी जड़ है। इस सुखके आधीन प्राणी असत्य चोरी, कुशील, हिंसादि पांपोमे फसकर इसलोकमे ही अनेक दु:खोमे पड जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने ही आधीन नहीं है। तथा भयभीत रखनेवाला है और इस सुखको इंद्रियाँ यदि बलवती हो तब इंद्रियाँ ही ग्रहण कर सकती है। यह सुख यद्यपि तीव्र रागके कारणसे दुर्गतिका बीज है और तृष्णा सताप तथा पापोसे भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहजमे नही मिलता है, बड़ा कष्ट सहना पडता है।

ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होनेपर भी कि ये इंद्रिय विषयोके सुख ग्रहण करने योग्य नही है, यह अविरति पुरुष अप्रत्याख्यानादि कषायोको न दबा सकनेके कारण उनके जोरसे व्याकुल होता हुआ विषयभोगोको नही त्यागता है। त्यागना चाहता है परन्तु त्याग नही कर सकता है। इसीलिये यह विचारता है कि मैं किससे पूछूं व किसका आश्रय लूं व क्या उपाय करूं जिससे मेरे मनमें

वैराग्य पैदा होजावे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नित्य विचारकरता रहता है तथा जिसे आत्मापर दृढ़ विश्वास होगया है व जिसके स्वरूप का दर्शन सम्यक्त होते समय हो चुका है वह उस आत्माका ही अनुभव समय समय करता रहता है और इसी भेदविज्ञानके अभ्याससे उसके कषाय कर्म धीरे-धीरे दुर्बल होते चले जाते हैं। इसीलिए वैराग्यकी भावना परम कार्यकारी है। तत्वभावनासे ही आत्माका कार्य बनता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

विषय सुख असारा दुःख भयप्रद अपारा।
दुर्गति दुखदाता संत निंदित बिचारा॥
है अथिर विचारूँ खेद ! नहि भोग त्यागूं।
शरण काकी लूँ कौन शुभ यत्न लागूं॥१५॥

उत्थानिका—आगे भावना करनेवाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्रके चरण मेरे हृदयमे सदा जमे रहे यह ही एक उपाय है—

मोहध्वान्तमनेकदोषजनकं मे भर्त्सितुं दीपका—
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ॥
आश्लिष्टाविव बिबिताविव सदा पादौ निखाताविव।
स्थेयास्तां लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव॥१६॥

अन्वयार्थ—(अर्हम्) हे अर्हन्तदेव (मे) मेरे (हृदि) हृदयमे (अनेकदोषजनकं) अनेक रागादि दोषोको पैदा करनेवाले (मोहध्वांतं) ऐसे मोहरूपी अंधेरेको (भर्त्सितुं) हटानेके लिए (दीपकौ) दीपकके समान (इन्द्रार्चितौ) इन्द्रोके द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापोके जलानेवाले (तव) आपके (पादौ) दोनो

चरण (सदा) हमेशा (स्थेयास्तां) ठहरा जावें (उत्कीर्णौ इव) मानों दिलमें अंकित होजावें (कीलितौ इव) या मानो कीलके समान गड़ जावें (स्यूतौ इव) या मानो सीजावें (अश्लिष्टौ इव) या मानों चस्पा होजावे (विम्बितौ इव) या मानों छायाकी तरह जम जावें (निखातौ इव) या मानो जड़ हुएके समान होजावें (लिखितौ इव) या मानो लिख दिए जावें (वद्धौ इव) या मानों बांध दिए जावें अर्थात् मैं कभी आपके चरणोंको न भूलूं ।

भावार्थ यहां आचार्यने भक्ति भावको भले प्रकार दिखलाया है । यह कहना कि आपके चरण मेरे हृदयमें जमकर बैठ जावे कि मानों दिल उनके साथ एक मेक होजावें इस बात के बतानेका एक अलंकार मात्र है कि आपका वास्तविक आत्मिक स्वरूप मेरे मनमें जम जावे अर्थात् मेरा मन आपके ज्ञानानंदमई शांत स्वभावमें रत होजावे, इसका भी भाव यही है कि मेरे मनसे सब अनात्मीक भाव हट जावें और एक आत्मीक शुद्ध भावप्रगट होजावे । इसको स्वात्मानुभव कहते हैं। वास्तवमें यही दीपक है जिससे अनादि काल का मोहका अंधेरा दूर होता है । इसी ज्ञानाग्निके तेजसे अनेक पापोंके ढेर जल जाते हैं। वास्तवमें जो आत्माको जानते हैं वे ही अर्हंत परमात्माको है । जो अरहंत परमात्माको पहचानते हैं वे ही आत्माको जानते हैं। क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा और परमात्माका स्वभाव एक समान है । अत्यन्त गाढ़ भक्ति भी द्वैतसे भावमें ले जानेके लिये निमित्त कारण है। यह भी इस श्लोकका आशय झलकता है कि जहांतक निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोगकी ऊंची अवस्था प्राप्त न हों वहांतक श्रीअर्हंतकी भक्ति, भावोंको मोक्षमार्गमें लगाए रखनेके लिए निमित्त है इसलिए भक्ति करते

रहना चाहिए। अर्हद्भक्तिको साधुजन भी नित्य करते हैं। उनके नित्य छः आवश्यक कर्मोमे स्तुति और वन्दना कर्म है। गृहस्थ जब प्रत्यक्ष भक्ति श्री जिनेन्द्रकी प्रतिमाओके निमित्तसे अधिकतर करते हैं तथा परोक्ष भक्ति कम करते है तब साधुजन परोक्ष भक्ति अधिक करते है। प्रत्यक्ष भक्ति जब जिन मदिरका समागम होता है तब करते हैं। भावोको अशुभोपयोगसे छुडाकर शुभोपयोगमे लगानेके लिए अर्हंत भक्ति वडा प्रवल उपाय है। गृहस्थोको नित्य अर्हंत भक्ति करके अपने अपने भावोको उज्वल करना योग्य है। यद्यपि अरहत वीतराग हैं, हमारी भक्ति किए जानेसे प्रसन्न नही होते है तथापि उनके गुणोके स्मरणसे व उनके शाति स्वरूपके दर्शनसे हमारे भाव शात होजाते है। इसलिए भगवद्भक्ति निमित्त कारण है। हमारे कल्याणके लिए ऐसा माननेमे कोई हानि नही है। अर्हत् भक्ति क्षणमात्रमे बड़े बडे पापोको काट देती है और महान् पुण्यको वाध देती है। ज्ञान सहित अर्हत् भक्ति मोक्षमार्ग है। यह १६ कारण भावनामे एक उत्तम भावना है।

श्री पद्मनदि मुनि सद्बोध चन्द्रोदयमे कहते हैं—

संविशुद्धपरमात्मभावना सविशुद्धपदकारण भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ—शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पदकी कारण हो जाती है तथा अशुद्ध आत्माकी भावना अशुद्ध भावके लिए कारण है। सोनेसे सोनेकी चीज व लोहेसे लोहेकी चीज बनती है। अतएव श्रीजिनेन्द्र परमात्माके गुणोका चिन्तवन सदा ही करते रहना चाहिए; क्योकि यह चितवन वीतरागभावमें पहुँचानेवाला परम मित्र है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

तव चरणजिनेन्द्र पाप नाशक बताए।
हृदय धरूं अपने मोह तम सब भगाए॥
दीपक सम रक्खूं कील डालूं बिठाऊं।
पूजित इन्द्रोंसे सीम डालूं जमाऊं॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि परका संयोग न रहना ही सुखकर है—

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दु.खं न कि प्रापितो।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम्।१७।

अन्वयार्थ—(मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते) मरण और जन्म रूपी वाघोके समूहसे भरे हुए (भवकानने) इस संसार वनमें (दुरंतरकल्मषभुवा) तीव्र पापको पैदा करनेवाले (येन) जिसके (संयोगेन) संयोगसे (त्वं) तुमने (किं दुखं) क्या २ दुःख (न) नही (प्रापित:) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापीके साथ (तव संग:) तेरा संग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमे भी (न जायते) नही हो (तथा) तैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चलं) स्थिर (मन.) मनको (कृत्वा) करके (हृदये) हृदयके भीतर (कुरुष्व) कर।

भावार्थ—यहां भी आचार्यने संकेत किया है कि मोहकी गाँठ जो तेरे दिलके भीतर पड़ी है उसको काट डाल। वास्तवमें मोह वड़ा पापी व दुष्ट है। इसीकी संगतिमे यह प्राणी रहकर संसारके स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि परिग्रहको अपना माना करता

है। तब किसीसे राग, किसीसे द्वेष करता है, इस मोह रागद्वेष के कारण तीव्र पापका वध करता हुआ संसार वनमे भ्रमता है, जिस बनमें बुढापा होना, और मरना ये दो वड वाघ हैं जो इसको पकड़कर दु.खी करते व सताते है इसके सिवाय अनेक शारीरिक और मानसिक क्लेश प्राप्त होते हैं। इस संसारके भीतर चार गतिया हैं, जहां ही जाता है वहाँ ही आकुलतामे पड जाता है। देवगतिमे भी इद्रियभोगोकी आकुलता रहती है व इप्टका वियोग होता रहता है व अन्यकी अधिक सपत्तिको देख कर दिलमे जलन पैदा होती है। वारवार इस संसारमे मरता है और कष्ट उठाता है। श्रीगुरु कहते हैं—इस मोहके वशमे पडा हुआ तुझे अनतकाल ससार वनमे चक्कर देते हुए और भटकते हुए वीत गया। तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दु.खोको पाता ही रहा, अव कुछ पुण्यके उदयसे यह मानव जन्म पाया है तथा सत्सगतिसे उस जनधर्मके रहस्यको जाना है जो जीवोको संसार वनसे निकालकर मुक्तिके अचल धामने विराजमान कर देता है। इसलिये अव प्रमादको छोडकर ऐसा कोई उद्यम करना उचित है जिससे इस मोह शत्रुसे पल्ला छूटे और ससारका भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो। उपाय यही है कि मनको निश्चल किया जावे, मिथ्यादर्शनके विषवो उगला जावे, सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृतको प्राप्त किया जावे, भेद विज्ञानके प्रतापसे आत्मानुभवको जागृत कियाजावे, आत्मीक आनन्दमे विलास किया जावे, यह आनद भोग ही ऐसा अपूर्व शास्त्र है जो मोहके खड खड कर देता है। इसी ही अमोघ शस्त्रसे मोह-शत्रुका नाश होजाता है और यह आत्मा मोहसे छूटकर शीघ्र ही अर्हंत परमात्मा होकर अनत सुखमे मग्न होजाता है, फिर शरीर रहित हो सिद्ध होकर निराकुल भावका

अनंतकालके लिए अधिकारी हो जाता है । जैसा श्री ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्र आर्चाय कहते है कि इस तरह विचारकर आत्मानुभव पाना चाहिये--

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भव. ।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाह प्रवर्तते ॥११॥

भावार्थ--जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमे मेरा अवगाह नही हुआ है तबतक ही ससारसे उत्पन्न हुआ महादाह मुझे पीडित करता है--

तत्सरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरजित ।
योजयत्यात्मनात्मान तस्मिस्तद्रूपसिद्धये ॥३५॥
अनन्यशरणीभूय स तस्मिल्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्य यथा ब्रजेत् ॥३७॥
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८॥

भावार्थ--जो उस शुद्धात्माके स्वरूपमे मन लगाकर उसीके गुणोमे रजायमान होजाता है वह अपनेसे ही अपने आत्माको अपनेमे अपने आत्माके स्वभावकी सिद्धिके लिये जोड देता है । वह अन्य वस्तुका आश्रय छोडकर उस आत्मामे ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता व ध्यानका भेद मिटकर ध्येय पदार्थसे एक-तान होजाता है । यही वह समरसी भाव है, यही एकीकरण है जहां आत्मा परमात्मामे एकी भावसे लय होजाता है । यही आत्मानुभव ससारवनसे निकालनेवाला मित्र है ।

मालिनी छन्द

मरण जरा हिसा पूरित भव वनीमे ।
क्या दुख न उठाए मोहकी संगतीमे ॥
करके मन निश्चल यत्न ऐसा उचित कर।
जो सङ्ग न आवे स्वप्नमें भी कलुषकर ॥१७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना आत्मकल्याण करलेना उचित है—

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रिय ।
साध्यंते सुखकारणा यदि तदा संपद्यते का क्षति· ॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते ।
लाभ. केन न मन्यते बत तदा लोकस्थिति जानता ॥१८॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंधसे भरे हुए तथा (मलीमसेन) मलीन (वपुषा) शरीरसे (सुखकारिणा:) सुखको करनेवाली (स्वर्गापवर्गश्रिय) स्वर्ग और मोक्षकी संपतियें (साध्यंते) प्राप्त की जाती है (तदा) तव (का) क्या (क्षति) हानि (सपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्यके द्वारा (सुखदं रत्न) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावे (तदा) तव (लोकस्थिति) जगतकी मर्यादाको (जानता) जाननेवाले (केन) किस पुरुषसे (लाभ) लाभ (न मन्यते) न माना जायगा ?

भावार्थ—यहा आचार्य वतलाते है कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है—हाड़, चाम, मांस, रुधिर आदिका वना हुआ है। निरतर अपने करोडो रोमोंसे और मुख्य नव द्वारोसे मैलको ही निकालता है, पवित्र जल चंदनादि पदार्थ भी जिसकी

संगतिमे आकर मलीन होजाते हैं, तथा यहऐसा कच्चा है कि जैसे कच्ची मिट्टीका घडा। जरा भी रोग शोक आदि क्लेशोकी ठोकर लगती है कि यह शरीर खडित हो जाता है। इस शरीर मे रातदिन बाधाएं रहती है, कभी भूख, कभी प्यास, कभी आलस्य सताता है, कभी चिताकी आगमे जला करता है। शरीराधीन इन्द्रियोके भोगकी चाह महान जलनपैदा करती है। इष्ट पदार्थोका वियोग परम आकुलित कर देता है। इस शरीर का मोह जीवको नरक निगोदकी दुर्गतिमे पटके देनेवाला है। तथापि जो कोई बुद्धिमान प्राणी हैं वह वह ऐसे शरीरसे मोह नही करते किन्तु इसको स्थिर रखते हुए इसके द्वारा परम सुख दाई मोक्षपद या साताकारी स्वर्गपद प्राप्त कर लेते है। क्योकि बिना मानवदेहके उच्च स्वर्गपदोका व मुक्तिपदका लाभ नही हो सकता है। इसमे वे अपनी कुछ हानिनही मानते हैं, क्योकि यह देह तो बहुत कष्टप्रद है व शीघ्र मरणके आधीन है, इसका मोह तो उल्टी तीव्र हानि करता है तब यही उचित है कि इसको चाकरकी तरह अपने वशमे रक्खा जावे और इसको ध्यान स्वाध्याय आदि तप साधनमे लगा दिया जावे। तब आत्मज्ञानके बलसे यहा भी कष्ट नही और फल ऐसा मिले कि जिसकी जरूरत थी व जिसके बिना ससारमे महादु खी था, यदि किसीके पास कोई निरर्थक वस्तु ऐसी हो जिसका रखना निंदनीय हो व जिससे कोई मतलब न निकलता हो तब यदि कोई कहे कि यह वस्तु तू देदे और बदलेमे सुखदाई अमोलक रत्न तू लेले तो बुद्धिमान मानव ज़रा भी संकोच व देर न करेगा और बडा ही लाभ मानकर उस रत्नको लेलेगा।

प्रयोजन कहनेका यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है

कि इद्रियोके विषयभोगोमें इस शरीरको रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो कानेसाठे (गन्ने) के समान है जिसको खानेसे मजा नही आता है परन्तु यदि उसे वो दिया जावे तो मीटे २ साठोंको पैदा करता है। इसी तरह इस शरीरके भोगनेमे शांति नही मिलती है किन्तु यदि इसे तप संयम ध्यानमें लगा दिया जावे तो मोक्षके अपूर्व सुखोको व स्वर्गके साताकारी सुखोको पैदा करा देता है। इसलिये शरीरसे मोह छोडकर आत्म हित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजर कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरित मूढ़ गाढम् ॥
यमवदननिपण्णं रोगभोगीन्द्रगेह ।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीम् ॥१३॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! इस ससारमें यह मनुष्योका शरीर चर्मके पर्देसे ढका हुआ हाडोका पिजरा है, विगड़ी हुई पीपकी दुर्गंधसे खूव भरा हुआ है तथा रोगरूपी सर्पोका घर है और कालके मुखमे बैठा हुआ है, तव ऐसे शरीरसे किस तरह प्रेम किया जावे। श्री पद्मनंदि मुनि शरीराष्टक मे कहते हैं—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे ।
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्वदर्शि ॥
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना ।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥७॥

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परन्तु यदि परम गुरुका वचन जो तत्वको दिखलानेवाला है मेरे मनमे रहे तो उसके प्रभावसे अर्थात् उस उपदेश

पर चलनेसे मुझे इसी शरीर द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्दसे भरिपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होजावे।

इसलिए इस नर तनसे धर्मपालकर स्वात्म लाभ कर लेना ही उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

यदि अशुचि शरीरं साधता सौख्यकारी ।
दिव शिवपद अनुपम हानि क्या तव विचारी ॥
निंदित लघु वस्तू छोड़ते रत्न पावे ।
बुधजन तव यामें लाभ ही लाभ भावे ॥१८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमानोंको उचित है कि सर्व संकटोंको दूर करनेवाले जैनधर्मका पालन करें।

मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः ।
सूद्यंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना ॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदया ।
हन्यंते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रोंको छिपानेवाले सूर्यके द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदया) सबकी आंखोंमें देखनेकी शक्तिको रोकनेवाले (सुखहराः) और सुखको हरनेवाले (तिमिरोत्कराः) अंधिकारके समूह (हन्यंते) नाशकर दिए जाते हैं वैसे ही (संसारविच्छेदिना) संसारको नाश करनेवाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्मके द्वारा (मृत्यूत्पत्ति-वियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, भय, रोग, मनका क्लेश, शोक आदि (सहसा) इकदम (सूद्यंते) दूरकर दिए जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने जैनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है और उसकी उपमा सूर्यसे दी है। सूर्यके सामने जैसे और नक्षत्रोका तेज छिप जाता है वैसे जैनधर्मके स्याद्वाद नय-गर्भित अनेकात उपदेशके सामने एकान्त तत्वको पोखनेवाले मतोका तेज लुप्त होजाता है। जैसे सूर्यके प्रकाशसे वडा भारी रात्रिका अधकार जिसके कारणके आखोके रहते हुए भी प्राणी देख नही सकते हैं व जो देखनेके सुखके रोकनेवाला है सो एक-दम दूर होजाता है। उसी तरह जिनशासनके सेवनसे जन्म-मरणादि दु खोसे परिपूर्ण ससारका ही नाश होजाता है, ससार का कारण रागद्वेष मोह है। जिनशासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रयमई है, अथवा शुद्ध आत्माका ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिससमय यह स्वानुभव जगता है तुर्त मन-का क्लेश व शोकादि भावोकी हटा देता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोगकी चिन्ताको मिटा देता है। ध्याताको निर्भय बना देता है। स्वानुभवसे ही पापोका नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणीपर पहुँचा हुआ शुक्लध्यान कहलाता है जिसके प्रतापसे घातिया कर्मोका नाश होकर यह जीव अर्हत होजाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मोका भी क्षय कर सिद्ध पर-मात्मा होजाता है। अब इसका न जन्म होता है न मरण होता है। यह जीव सिद्धपदमे निश्चलतासे अंतकाल स्थित रहता है और अपने आत्मीक आनंदका विलास करता है। जिस जैनधर्म के सेवनसे यहा भी सुख होता है और परलोकमें भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रखकर उसका आचरण करना निरंतर उचित है। जो इस मानवजन्मको पाकर जिनशासनरूपी जहाज पर चढ़ जाते हैं वे अवश्य नि.शक होकर संसार-समुद्रको तय

करते चले जाते हैं। अतएव हरएक बुद्धिमान प्राणीको जैनधर्म से प्रेम करना उचित है, यह आत्मस्वातन्त्र्यका पाठ सिखाता है और अहिसाके अद्भुत भावको जगाता है। यह जगतके प्राणियो के दुःख मिटानेको दयाभाव जगाता है। यह अन्याय पथसे बिलकुल हटा देता है। यह जीवको समदर्शी व वीतरागी बना देता है। यह सासारिक सुख दुःखोके भीतर भी समताभाव रखने की युक्ति बता देता है। यह अपने निश्चय दृष्टिरूपी शस्त्रसे राग द्वेषके कुभावोको विध्वंश कर डालता है। यह निरतर ज्ञान रसको पिलाता है, तृष्णाकी दाहको शमन कराता है और जीव को निर्भय बनाकर साहसी और निराकुल कर देता है। इस जैनधर्मकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है।

श्री पद्मनदि मुनि धर्मोपदेशामृतमे इस रत्नत्रय धर्मकी महिमा इस तरह गाते हैं—

भयभुजगनागदमनी दु खमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥८॥

भावार्थ—यह सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयमई जैनधर्म ससाररूपी सर्पके हटानेको नागदमनी औषधि है, दु.खोकी महान आगको बुझानेके लिए जलकी वृष्टि हैं, तथा मोक्षसुख रूपी अमृतका सरोवर है सो जयवन्त रहो।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जनम मरण ब्याधि आधि भय शोक आदि।
सहज नशत जासे जैन शासन अनादी ॥
भानु जिम नाशकरता दुःखकर जग अंधेरा।
जनदृष्टि विराधक तेज नक्षत्र गेरा ॥१६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्माकी तरफ है वही शुद्धात्म भावको पाता है—

मदाक्रान्ता छन्द।

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा।
यस्य स्वान्ते स्फुरदि न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम् ॥
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचय ब्रह्मसद्म प्रयाति ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यस्य जिस (मुनेः) मुनिके (स्वान्ते) अंत.करण मे (चित्रारंभप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरंभोमे लगने वाली (लोकयात्राम मुष्णती) व मोक्षकी यात्राको रोकनेवाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृत्ति (सर्वदा) कभी ही (न स्फुरति) नही प्रगट होती है (असौ) वही साधु(आत्मतत्त्वप्रचारे) आत्मीकतत्त्वके मननमे (स्थिरतरं) अति दृढ आत्मान) अपने आत्मा को (कृत्वा) करके (अशेषं) सर्व (कलिलनिचयं) कर्मोंके मैलके ढेरको (क्षिप्त्वा) दूर फेंक कर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्धलोकको (प्रयाति) चला जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने वताया है कि सिद्धि उसीकी हो सकती है जो उसके लिए भले प्रकार पुरुषार्थ करता है। मुनिगण ही मोक्षपद पानेके अधिकारी हैं। गृहस्थी आरम्भ परिग्रह के मैलसे मलीन रहते हुए गजस्नानवत् आचरण करते है, यदि उन्होने कुछ ध्यानादि करके पाप धोया भी तो दूसरे समय आरंभोमे उलझकर फिर पापोका बंध कर लिया, इसलिए वे ही सच्चे साधु मोक्षको पासकते है जिनके अंतरंगमें ससारके सब प्रकारके आरंभसे ऐसी उदासीनता होगई है कि वे कभी किसी

असि मसि कृषि आदि कर्मका व रसोई पानी वनवाने आदिका रचमात्र भी विचार नही करते हैं । वे जानते है कि ये ससारके व्यवहार रागद्वेषको बढानेवाले, चिन्तामे फसानेवाले और स्वानुभव रूप मोक्षकी यात्राके मार्गसे हटानेवाले हैं। इसलिए वे राज्यपाट गृहनगर आदिको छोडकर अत्यत दूर एकान्त निर्जन वनोमे निवास करते हैं, अपने मनमे रातदिन मुक्ति-सुन्दरीके मिलनेकी उत्कंठामे लगे रहते हैं, वे साधुजन अपने ही आत्माके निश्चय स्वरूपका विचार करते है और उसी आत्मानुभवमे थिरता पानेका उद्यम करते है । जितना २ आत्मानुभव बढता जाता है और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है, उतना उतना ही कर्मोका अधिक क्षय होता जाता है और बधका अभाव होता जाता है । आत्मसमाधिरूपी नौकापर चढे हुए साधु आत्मानद को पाते हुए बडे सुखसे इस संसारकी विशाल यात्राको उल्लघन करके मोक्षमे पहुँच जाते हैं ।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जो ब्रह्मानदके स्वादके चाहने-वाले है उनको सर्व आरभ परिग्रहसे विरक्त होकर साधुके चारित्र को पालते हुए आत्मध्यानका अभ्यास बढाना जरूरी है। जिन साधुओकी दृष्टि सदा आत्मानुभवकी तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्तिको पहुँच जाते हैं ।

जैसा श्री पद्मनदि मुनिने सद्बोधचद्रोदयमें कहा है कि आत्मध्यान ही मुख्य है—

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तम बुधा. ।
यत्र यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदंतरम् ।२०

भावार्थ—हे बुद्धिमानो ! आत्मज्ञानरूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, इसमे बराबर भले प्रकार स्नान करो। जो कर्ममल अन्तरङ्गमे है व जिसको अन्य करोडो तीर्थ धो नहीं सकते उस मैल को यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जिस मुनिके मनमें लोक व्यवहार सारा।
शिव पथ हर्तारा घोर आरम्भ कारा॥
नहि होत सुसाधू आत्म तत्त्वे विहारी।
कर क्षय मल सर्व ब्रह्म पद लेत भारी ॥२०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कामविकार बडा प्रबल है, इसने सर्व जगत को वश कर लिया है।

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधमा.।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो नाऽजा:॥
त्यज्यते समवर्तिनेव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारेण मनोभवेन नयता हृत्वांगिनो वश्यता ॥२१॥

अन्वयार्थ—(समवर्त्तिना इव) समवर्ती जो यमराज या मरण उसके समान (लोकत्रयव्यापिना) तीन लोक मे व्यापी (दुर्वारेण) महान कठिनतासे दूर करनेयोग्य तथा (अंगिन.) शरीर धारियों को (हृत्वा) मार करके (वश्यता नयता) अपने वश करनेवाले (मनोभवेन) कामदेवके द्वारा (नो वृद्धा) न तो वृद्ध (न विचक्षणा) न चतुर (न मुनय.) न साधुजन (न ज्ञानिन:) न ज्ञानी लोग (न अधमा) न नीच पुरुष (नो शूरा.) न वीर मानव (न विभीरव.) न डरपोक जन (न पशव:) न पशुगण (न स्वर्गिण:)

न स्वर्ग के देवता (न अण्डजा) न पक्षीगण (सकला) ये सर्व ही (न त्यज्यन्ते) नही छोडे जाते है ।

(नोट—यहा एक न ऊपरसे लगाना उचित है ।)

भावार्थ—जैसे मरणके आधीन सर्व शरीरधारी प्राणी हैं वैसे कामदेवके आधीन सर्व प्राणी होरहे हैं । मरण जैसे तीन लोकके प्राणियोको सताता है वैसे कामदेव भी प्राय सब प्राणियोको सताता है । जैसे मरणको निवारा नही जासकता वैसे कामदेवको निवारना कठिन है । जैसे मरणको बुद्धिवान, मूर्ख, धनवान, निर्धन, साधु, सत, वीर, कायर, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि किसी भी शरीरधारीको नही छोडता है वैसे ही कामदेव ने प्राय सब शरीरधारियो को सता रक्खा है । मैथुन सज्ञा अर्थात् काम की चाह एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तकके जीवोमे है । यहातक आचार्यने कामदेव की प्रबलता इसीलिये दिखाई है कि यह कामभाव परिणामोको बहुत रागी व मोहीबना देता है व इसके वशमे बडे २ साधु व वीर पुरुष भी आकर कायर व दीन होजाते हैं । यह काम इस जीवका महान शत्रु है । इस जन्ममे यह काम प्राणी को अन्धा बनाकर धर्म कर्मसे भ्रष्ट कर देता है तथा धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थो से हटा देता है और परलोकमे दुर्गतिमे पटक देता है । जहासे भ्रमण करते२ मानवजन्म पाना बहुत दुष्कर होजाता है । जिन स्त्री पुरुषोने कामभावको जीता है वे ही साम्यभाव मे भलेप्रकार रम सकते हैं, वे ही सच्चे सुख व शातिको प्राप्त कर सकते है । कामभाव से बचनेके लिये हरएक बुद्धिमान प्राणीको सदा ही यत्न करना योग्य है । ब्रह्मभाव और कामभावमे वैर है । ब्रह्मभाव जब निराकुलताका कारण है तब कामभाव तीव्र आकुलताका कारण है । तत्त्व-

भावना का महान घातक यह कामदेव है । श्री पद्मनंदि मुनि ब्रह्म चर्य रक्षामे ऐसा कहते है .—

चेतो भ्रांतिकरी नरस्य मदिरा प्रीतिर्यथा स्त्री तथा ।
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधि· स्तोकोऽपि संभाव्यते ॥
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभि. प्राप्तैस्तपोभूमिकाम् ।
कर्तव्यो व्रतिभि समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

भावार्थ-जैसे मदिरा मनुष्यके चित्तमे भ्राति पैदा कर देती है वैसे ही स्त्री की प्रीति मन को वावला वना देती है । ऐसी स्त्री-की सगतिमे किसतरह थोडा भी मुनिका व्रत सभव होसता है ? इसलिये जो संसारसागरमें डूबनेसे भयवान हैं और तपका भूमिमे प्राप्त होचुके हैं ऐसे व्रतियोको उचित है कि सर्व स्त्रियोके त्यागमें महान उद्यम रक्खें। मनकी शुद्धि काम भावके त्यागसे ही होती है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

यम सम दुर्वारं काम कृच्चिद्विकार ।
जगत जनोको है पीड़ता हत्त अपार ॥
पशु देव सु वीरं वृद्ध मुनि ज्ञानधार ।
प्राणी सव मोहे कामको कर निवार ॥२१॥

उत्थानिका--आगे कहते है कि इस कामभाव को वैराग्य व आत्मध्यानसे जीतना उचित है--

शश्वद्दु.सहदु.खदानचतुरो वैरी मनोभूरयम् ।
ध्यानेनैव नियम्यते न तपसा सगेन न ज्ञानिनाम् ॥
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलम् ।

वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥२२॥

अन्वयार्थ--(अयम) यह (मनोभू) कामभाव (शश्वत्) सदा ही (दु सहदु खदानचतुर) असहनीय दु ख देनेमें चतुर (वैरी) शत्रु है। इसको (ध्यानेन एव) आत्मध्यानसे ही (नियम्यते) वश किया जा सकता है (न तपसा) न तो तप करनेसे (न ज्ञानिनाम सगेन) न ज्ञानियोकी संगतिसे यह वश होता है अथवा (शमिनां) शात चित्तवालोको (निर्वाणदानक्षमं) मुक्ति देनेमे समर्थ जो (देहात्मव्यतिरेकबोधजनित) देह और आत्मा के भिन्न२ ज्ञान से उत्पन्न (निश्चलं) निश्चल (स्वाभाविकं) व स्वाभाविक (परम) उत्कृष्ट (वैराग्यं) वैराग्य है (विहाय) उसको छोडकर और कोई उपाय नही है।

भावाथ--यहांपर आचार्यने कामभाव मिटाने के लिये आत्मध्यानको ही मुख्य कारण बताया है और उस आत्मध्यानको ही उत्तम वैराग्य कहा है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जहां वैराग्य होता है वही राग मिटता है। यदि वैराग्य न हो और नाना प्रकारके तप किये जावे तथा विद्वान पडितोकी सगतिमें रहकर ज्ञान की चर्चा सुनी जावे तब भी काम का विकार मनसे नही हटता है। इसलिये स्वाभाविक वैराग्य की प्राप्ति करनी उचित है। शरीर और आत्मा इन दोनोका सम्बन्ध दूध और पानीकी तरह एकमेक होरहा है। जिसने जिनवाणीके अभ्यास से भलेप्रकार समझ लिया है कि आत्माका स्वभाव भिन्न है और शरीर का स्वभाव भिन्न है उसीने आत्माके सच्चे स्वरूपका पता पाया है। आत्मा स्वतन्त्र एक द्रव्य है--गुणपर्यायमय है। चेतना, सुखचरित्र (वीतरागता) वीर्य, सम्यक्त्त आदि इसके विशेष गुण हैं। तथा इन गुणोमे परिणमन होना सो पर्यायें या

अवस्थाएं हैं। आत्मा असलमें शुद्ध गुण व शुद्ध पर्यायोका धनी है। यह अमूर्तीक है। इसमे न क्रोधादि विकार रूप भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं। संसार सम्वन्धी भाव कि मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ यह भी मोह का विकार है। सांसारिक सुख तृप्तिकारक नहीं है, पराधीन है, जवकि आत्मीक सुख स्वाधीन व परम संतोषकारक है। ऐसा भेद विज्ञान जिस किसीके चित्तमे होजाता है और जो इस भेदविज्ञानके वल से आत्मा को सर्व अन्य द्रव्योंसे व सर्व प्रकार अशुद्ध भावो से भिन्न अनुभव करता है उसको अभ्यासके वलसे आत्मीक आनन्द का वढिया स्वाद आने लगता है। तव उसकी वुद्धिसे इन्द्रियसुखकी रुचि हट जाती है। वस यही वह बीज है जिससे कामभाव को जीता जासकता है। जिसको वार-वार आत्मज्ञानके अभ्याससे चित्तकी निश्चलता होजाती है और दृढ़ उदासीनता ससारके कामोसे होजाती है व निजसुखके भोगनेकी तीव्र रुचि वढ जाती है, उसके दिलसे कामभाव विल-कुल निकल जाता है। आत्मज्ञान सहित जो वैराग्य है वही कर्मोंकी निर्जरा करता है। इस आत्मज्ञान सहित वैराग्यके लिये उपवास करना, रस त्यागना आदि तप, तथा ज्ञानियोंकी संगति में वैठकर शास्त्रका विचार करना निमित्त है। जो आत्मध्यानकी खोज इन निमित्तोको मिलाकर नही करता है उसके मनमे काम-भावका वैरी ब्रह्मज्ञान नही पैदा होता है। इसीलिये आचार्यने दिखाया है कि आत्मध्यान और वैराग्य के विना, मात्र तप व मात्र ज्ञानियों की संगति करना कामदेवको नाश नही करसकते।

मुख्य आत्मानुभव है, यही औषधि है जिससे वैराग्य आजाता

है और कामका राग मिट जाता है। इसलिये जो सच्चेहितके वाछक हैं उनको वैराग्य सहित आत्मध्यानका अभ्यास सदा करना चाहिये। ध्यानके सम्बन्धमे विशेष कथन पुस्तकके अतमे दिया गया है वहासे पाठक ध्यानकी रीतियो को समझे। यहां यह मतलब है कि कामभावको आत्माकी उन्नतिका परम वैरी समझकर उसके नाश करनेके उपायमे लगे रहे तथा उसके आक्रमणसे वचनेके लिये सदा सावधान रहे। यह बात अच्छी तरह समझ ले कि कामकी उत्पत्ति मनमे होती है। जिसके मनमे ब्रह्मभावका स्वाद आजाता है वही मन कामभावके स्वादको बुरा जानने लगता है। जैसे किसी मनुष्यने अपने ग्रामके खारे कुएका पानी पिया है और वह उसे ही मीठा समझ रहा है। एक दिन वह दूसरे ग्राममे जाता है और वहाँ उसे मीठे कूएका मीठा पानी कोई पिलाता है, तव उसका भाव एकदम फिर जाता है। वह जब इस मीठे पानीके स्वादका मुकावला अपने कूए के खारे पानीके स्वादसे करता है तब इसको यह दृढ निश्चय होजाता है कि असली मीठा पानी तो वह है जो आज पिया है। अबतक जो मैंने अपने ग्रामके कूएके पानी को मीठा समझा था सो मेरी भूल थी। इसी तरह जब आत्मध्यानसे आत्मानन्दका स्वाद आने लगता है तब विषयसुख विरस है, सच्चा सुख नही है यह बुद्धि जमती है। इसलिये आत्मध्यानका ही उपाय करना परम श्रेयस्कर है। श्री पद्मनदि मुनिने सदबोधचन्द्रोदयमे कहा है कि आत्मध्यान ही परम कल्याणकारी है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि. वर्जित किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्वमदीशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः २५

भावार्थ—जो आत्मतत्त्व सर्व रागादि उपाधियोसे रहित है तथा ज्ञानमय है वही तत्व हमको इष्ट है। उसके समान और कोई भी अल्प भी तत्त्व मोक्षका कारण नही है। यही योगका निश्चय य सार है। अर्थात् आत्मतत्त्वके अनुभव से ही मुक्ति हो सकती है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

दु सह दुखकारी, काम रिपु कर निवारी ।
कर आतम ध्यान. चित्त वैराग्य धारी ॥
या विनबुध सङ्ग , औ तप नहिं नशावे ।
लख आतम भिन्न, देहसे मुक्त पावे ॥२२ ॥

उत्थानिका -आगे कहते है कि जो अविवेकी है वे सदा ससारचक्रमे भ्रमण करते रहते हैं —

क. कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्त्ते कथ सांप्रतम्
कि कर्मात्र हित परत्र मम कि कि मे निजं कि परम् ॥
इत्थ सर्वविचारणाविरहिता दूरीकुतात्मक्रिया: ।
जन्मांभोधिविवर्तपातनपरा. कुर्वन्ति सर्वा. क्रिया ॥२३॥

अन्वयार्थ—(मम) मेरा (क.) कौनसा (काल) काल है (अधुना) अब (क·) कौनसा (भवम्) जन्म है (साप्रतम्) वर्तमानमे (अह) मैं (कथं) किसतरह (वर्ते) वर्ताव करूं (अत्र) इस जन्ममे (मम) मेरा (कि कर्म) कौनसा कार्य (हित) हितकारी है(परत्र)पर जन्ममे(कि)कौनसा कर्म हितकारी है। (मे) मेरा (निंज) अपना (किं)क्या है।परम्) पर(किं)क्या है (इत्थ)इस प्रकारकी(सर्व विचारणाविरहिता)सर्व विवेकवुद्धिको न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रिया)तथा आत्माका आचार दूर ही

रखते हुए जगतके जन (जन्मांभोधिविवर्तपातनपरा॰) संसारसमुद्रके भंवरमे पटकनेवाले (सर्वा. क्रिया.) सर्व आचरणोंको (कुर्वन्ति) करते रहते है।

भावार्थ---यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि विवेकी पुरुष व स्त्रीयोको नीचे लिखे प्रकार प्रश्नोको व उत्तरोको विचारते रहना चाहिये---

(१) मेरा कौनसा काल है ?

उत्तर--मेरा काल वालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा यह समय कैसा है। सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है। रोगाक्रात है या निरोग है। अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है या पांचमा दुखमा काल है।

(२) मेरा अब कौनसा जन्म है ?

उत्तर---मैं इस समय मानव हूं, देव हूं या नारकी हूं राजा हूं या रक हू।

(३) मै अब किसतरह वर्ताव करूं ?

उत्तर---इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येयवनना लेना चाहिये कि मैं क्या इस समय मुनिव्रत पाल सकता हू या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक होसक्ता हू, या मैं गृहस्थमे रहते हुए धर्म साध सकता हू, या मैं गृहस्थमे रहते हुए कौनसी प्रतिमाके व्रत पाल सकता हूं, या मैं आजीविकाके लिये क्या उपाय कर सकता हूँ अथवा मैं परोपकार किसतरहकर सकता हूँ।

(४) इस जन्ममें मेरा हितकारी कर्म क्या है ?

उ०--मैं इस जन्ममे मुनि होकर अमुक२ शास्त्र लिख सकता

हूं व अमुक देश, जिलेमे जाकर धर्म का प्रचार कर सकता हूं अथवा मैं गृहस्थमे रहकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंको साध सकता हूं। और धनसे अमुक२ परोपकार कर सकता हूं।

(५) परलोकमें मेरा हित क्या है ?

उ०—मैं यदि परलोकमे साताकारी सम्बन्ध पाऊं, जहा मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्वविचार कर सकूं, तीर्थंकर केवलीका दर्शन कर सकूं, उनकी दिव्यध्वनिको सुन सकूं, मुनिराजोंके दर्शन करके सत्संगतिसे लाभ उठा सकूं, ढाईद्वीपके व तेरहद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयोंके दर्शन कर सकूं, तो वहुत उत्तन है जिससे मैं परम्परासे मोक्ष धामका स्वामी हो सकूं।

(६) मेरा अपना क्या है ?

उ०—मेरा अपना, मेरा आत्मा है; सिवाय अपने आत्माके कोई अपना नही है। आत्मामे जो ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे ही मेरी सम्पत्ति है। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणोंका समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणोका समय२ शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानदमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नही है।

(७) मेरेसे अन्य क्या है ?

उ०—मेरे स्वभावसे व मेरी सत्तासे भिन्न सर्व ही अन्य आत्माए हैं, सर्व ही अणु व स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश तथा काल द्रव्य हैं, मेरी सत्तामे जो मोहके निमित्तसे रागादि भाव होते हैं ये भी मेरे नही हैं न किसी प्रकारका कर्म व नोकमका संयोग मेरा अपना है, वे सब पर हैं।

जो विवेकी इन प्रश्नोंको विलकुल विचार नही करते हैं वे आत्मोन्नतिसे सर्वथा दूर रहते है। वे वह कुछ भी आचरण नही पालते हैं। जिससे आत्माको सुख शाति प्राप्त हो। वे रातदिन संसारके मोहमे फसे रहते हैं और विषय कषाय सम्बंधी अनेक न्याय व अन्याय रूप कार्योको करते हुए अनेक प्रकारके कर्म बाध ससार-सागरमे गोते लगाते रहते है। ऊपर लिखित विवेक जिनमे होता है वास्तवमे वे ही मानव है। जिनमे यह विचार नही है वे पशुतुल्य नितान्म अज्ञानी तथा मूर्ख है, मानव जन्मको पाकर जो विषयोमे खो देते हैं वे महा अज्ञान हैं।

श्री ज्ञानार्णवमे शुभचन्द्रजी कहते हैं—

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादत्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसा ॥

सुप्राप्य न पुन पु सा बोधिवरत्न भवार्णवे ।
हस्ताद् भृष्ट यथा रत्न महामूल्य महार्णवे ॥१२॥

भावार्थ--मानव जन्म' उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इद्रियोकी पूर्णता, बुद्धिकी प्रवलता, साताकारी सम्बन्ध ये सब अत्यन्त दुर्लभ है। पुण्य योगसे इनको पाकर भी जो कोई प्रमादमे फस जाते हैं व द्रव्यके और कामभोगोके लालसावान होजाते है, वे रत्नत्रयमार्गसे भृष्ट रहते है। इस ससाररूपी समुद्रमे रत्नत्रयका मिलना मानवोको सुगमतासे नही होता है। यदि कदाचित अवसर आजावे तो रत्नत्रय धर्मको प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिये। यदि सम्हाल न की तो जैसे महासमुद्रमे हाथसे गिरे हुए रत्नका मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रयका मिलना दुर्लभ है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

कैसा है कालं कौन है जन्म मेरा,
किस विध वर्तूं मै क्या सुहित अत्र मेरा ।
परलोके हित क्या, क्या जु अपना पराया,
ऐसे चिन्ते विन, भव उदधि निज डुवाया ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधु मार्ग ही मुक्तिका कारण है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदक.।
भैक्ष्यं भोजमुत्तमं वसुमती शय्या दिगस्त्वम्वरम् ॥
संतोषा मृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते ।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परै. ॥२४॥

अन्वयार्थ—(येषा) जिन महात्माओंका (आलयं) घर (काननं)जगल है,(तमश्छेदक.) अंधकारको नाशनेवाला (दीप:) दीपक(शशधर:)चन्द्रमा है, (उत्तमं भोजन,उत्तम भोजन(भैक्ष्यं) भिक्षाद्वारा हाथमे रक्खा हुआ भोजन लेना है,(शय्या सोनेका पलंग (वसुमती) भूमि है,(तु) तथा (अम्बर, कपड़ा (दिश:) दिशाए हैं।(ते) वे (संतोषामृतपानपुष्टवपुष:)संतोष रूपी अमृतके पानसे अपने शरीरको पुष्ट करनेवाले (धन्या.)धन्य साधु (कर्माणि)कर्मोको(निर्धूय)धोकर(परै: दीनै:)दूसरे दीन पुरुषोंसे (दुरापं)न प्राप्त करने योग्य(अस्तविपद)सर्व आपत्तियोंसे रहित निराकुल (निवासं) मोक्षस्थानको (यांति) प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—यहा आचार्यने दिखलाया है किनिर्ग्रंथ लिगधारी साधु महात्मा ही मोक्षके अधिकारी हैं।

जिन महात्माओने धन धान्यसे भरे हुए घरको छोडकर जगलको ही अपना घर बना लिया है, तेलबत्तीसे बने हुए दीपकको छोडकर चद्रमाहीसे दीपकका काम लेना शुरु किया है, नानाप्रकार मनोज्ञ मिठाई पकवान भोजन छोडकर भिक्षा द्वारा प्राप्त नीरस सरस भोजनको लेना ही अपना कर्तव्य समझा है, जिन्होने पलग गद्दे आदि मुलायम बिछौनोको छोड़कर भूमिको ही अपनी निरारभी व निराकुल शय्या माना है, जिन महान् पुरुषोने सर्व प्रकारके रुई आदिके वस्त्रोको त्यागकर दश दिशाओको ही अपना स्वाभाविक वस्त्र जाना है ऐसे वस्त्र त्यागी व परिग्रह रहित निर्जन वनवासी साधु ही सदा सन्तोष रूपी अमृतसे तृप्त रहते हैं। वे साताकारी सामग्रीके सयोगमे हर्ष नही मानते है व असाताकारी पदार्थोके सम्बन्धमे शोक नही करते हैं, निरतर आत्मानदरूपी अमृतको पीते हुए तृप्त रहते हैं। वे ही साधु अपने वीतराग भावसे कर्मोको नाश करके अविनाशी मोक्षपदको पालते हैं । जहा कोई न चिंता है न शरीर है, न कोई व्याधि है न कोई आकुलता है, न कुछ काम करना है। जहा निरतर आत्मनदका बिलास रहता है। ऐसे अपूर्व पदको वे नही पासकते हैं जो कायर हैं व दीन हैं। जो घरसे ममता नही छोड सकते, जो रसीले भोजन पानके करने वाले है। जो मुलायम गद्दोपर सोते है वजो अनेक प्रकार वस्त्रों से अपने शरीरको ढकते हैं, तथा जो असाता पडनेपर क्रोधी व साता मिलनेपर राजी होजाते हैं ऐसे नाममात्रके साधु कभी भी मुक्तिपदको नही पासकते है।

श्री पद्मनदि मुनि यत्याचार धर्ममे लिखते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो ।
यदीन्द्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा ।।
स्थिरो यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे ।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदन्द्रजालेऽपि च ।।५६।।

भावार्थ—यदि परिग्रह धारी साधुओंको मोक्ष होता हुआ माना जावे तो अग्निको ठंडा मानना पड़ेगा। इंद्रियोंका सुख होजावे तो विषको भी अमृत मानना होगा। शरीर यदि स्थिर माना जावे तो आकाशमे बिजलीको स्थिर मानना होगा, और यदि संसारमे रमणीकता मानी जावे तो इन्द्रजालके खेलमें रमणीकता मानना होगा।

मतलब यह है कि परिग्रह त्यागी, इंद्रियसुखसे विरागी, शरीरको अनित्य माननेवाला संसारको रमणीक न देखनेवाला ही साधु महात्मा मोक्षका अधिकारी है।

मूल श्लोकानुसार त्रिभंगी छन्द ।

जिनका बन डेरा चंद्र उजेरा दीपक नेरा तम नाशे ।
भिक्षा है भोजन अंबर दिश गण भूशयनास नपरकाशे ।।
जो संतोपामृत पीवत सुखकृत कर्मन धोवत सुखभासे ।
सो यति शिव पावे विपत् नशावे दीन न पावे
लघुतासे ।।२४।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पर पदार्थोंपर स्नेह करते है वे आत्महितसे गिर जाते हैं—

माता मे मम गेहनी मम गृह मे बाधवा मेऽगजाः ।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जना. ।।
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राथी सनीस्त्रस्यंते ।।२५।।

अन्वयार्थ—(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहिनी) यह मेरी स्त्री है (मम गृहं) यह मेरा घर है (मे वाधवा:) ये मेरे बंधुजन हैं (मे अगजा) ये मेरे पुत्र हैं (मे तात) यह मेरे पिता हैं (मम सपद) यह मेरा धन है (मम सुख) यह मेरा है (मे सज्जना·) ये मेरे हितैषीजन है (मे जना) ये मेरे परिवारके लोग है (इत्थ) इस तरहके (घोरममत्वतामसवगव्यस्तावबोध- स्थिति:) भयानक ममता रूप अधकारसे जिसका ज्ञान ग्रस्त हो-रहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्माधानविधानत.) सच्चे सुखको प्राप्त करानेवाले (स्वहितत) अपने हितकारी कार्यसे (सनीस्त्रस्यते) दूर भ'गता जाता है ।

भावार्थ—यहापर आचार्यने बाहरी पदार्थोसे ममता करने-का कटुक फल दिखलाया है । जसे मदिराके पीनेसे बुद्धि विगड जाती है, बेहोशी आजाती है, अपनी सुधि नही रहती है उसी तरह,मोहके कारण यह प्राणी अपनी आत्मा के हितको भूल जाता है । यह जब कभी जरा विचार करता है तो समझ लेता है कि जब शरीर ही अपना नही है तब शरीरके साथी माता पिता, स्त्री, बधु, पुत्र मित्र परिवार, धन, गृह आदि चेतन व अचेतन पदार्थ अपने कैसे होगे ? परंतु कुछ ही देर पीछे फिर ऐसा मोहित होजाता है कि रात दिन इसी खयाल मे फसा रहता है कि ये मेरे पुत्र हैं, यह स्त्री है, यह धन है, ये बधुजन है, इनको मैं पालनेवाला हूँ, उन सबको मेरी आज्ञा माननी चाहिये अथवा ये सब बने रहें और मेरा काम चलता रहे । ये सब मेरे इंद्रिय सुखके भोगमे सहकारी है, यह धन सदा वना रहे, इसीसे मेरा जीना सफल है । प्रात कालसे संध्या होती है, सध्या

से सवेरा होता है। इस मोही प्राणीको इन्ही पर पदार्थोका ही विचार रहता है। उनके रोगाक्रांत होनेपर उनकी दवाईमे, उनके वियोग होनेपर शोक करनेमे इस तरह अपना मन उन्हीके रक्षणमें फंसाए रखता है। एक समय भरके लिये भी सच्चे ज्ञान को नही विचारता है कि ये सर्व सम्वन्ध क्षणभगुर शरीरके है। इनसे मेरा सच्चा हित न होगा तथा यह धन और इंद्रियोंके भोग्य पदार्थ मुझे कभी भी तृप्ति नही देते हैं। जितना मैं इनका संग्रह करता हूँ उतना अधिक मैं प्यासा व तृष्णावान व चिंतातुर वना रहता हूँ। यह जीव रात दिन मोहके प्रपचसे नही छूटता। यह जितना अधिक मोह वढाता है उतना अधिक अपने सच्चे हितकारी कार्यसे दूर होता चला जाता है, हाय हाय करते हुए एक दिन मर जाता है और आर्त व रौद्रध्यानके कारण दुर्गतिमें चला जाता है। आचार्य कहते है कि सच्चा सुख तो आत्मा मे है। यह अज्ञानी मोही जीव इस आत्माकी विभूतिसे शून्य रहता हुआ घोर सकटो में पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थोका मोह करना मूढता है। ज्ञानीको उनसे मोह न करके अपना लक्ष्य आत्मोन्नतिमे रखना उचित है।

अनित्यपचाशत्मे श्री पद्मनदि मुनि कहते है—

अंभोबुद्‌बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा ।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कातार्थपुत्रादयः ॥
सौख्यं वैपयिक सदैव तरलं मत्तांगनापांगवत् ।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविपये शोकेन कि कि मुदा।४।

भावार्थ— यह शरीर पानीके वुदवुदेके समान क्षणभङ्गुर है

यह लक्ष्मी इन्द्रजालके समान मिटनेवाली है, यह स्त्री पुत्रादिक कठिन वायुसे चलाए हुए मेघोके समान जानेवाले हैं, इद्रिय विषयोका सुख मत्त स्त्रीके नेत्रके समान चचल है इसलिये उन नाशवंत पदार्थोके मिलनेमे हर्ष क्या व जानेमे शोक क्या ? अर्थात् ज्ञानी इनके सबंधमे राग व वियोगमे शोक नही करते है ।

मूल श्लोकानुसार छन्द मालती ।

मा मेरो गृहिणी मेरो मम घर मेरे बाधव मे पुत्रा ।
मेरा बाप सम्पदा मेरी, मेरा सुख सज्जनजन मित्रा ॥
या विधि घोर मोह ममतावश, मूद रही है ज्ञान सुनेत्रा ।
सुखकारी निज हितसे प्राणी, दूर रहत है कार्यविचित्रा॥२५

उत्थानिका-आगे कहते है कि परपदार्थोके वियोग होने पर शोक न करना चाहिये—

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मनायौ स्थिरौ ।
यत्रावार्यरयौ परस्परमिमौ विश्लिष्यतों गांगिनौ ॥
खेदस्तत्र मनीषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति ॥
ज्ञात्वेतीह विमुच्यतामनुदिन विश्लेषशोक व्यथा ॥२६॥

अन्वयार्थ--(यत्र) जहाँ (यौ) ये जो (अगागिनौ) दोनों शरीर तथा शरीर धारी जीव हैं (विख्यातौ) सो बड़े मशहूर हैं (सहचारिता परिगतौ)अनादिकालसे साथ साथ आते चले आरहे हैं (आजन्मनायौ स्थिरौ)जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त दोनो स्थिर रहते है(इमौ)इन दोनोको (परस्पर)एक दूसरेसे (अवार्यरयौ) विरह करना बडा ही कठिन है । तौभी (विश्लिष्यत)इन दोनों का परस्पर वियोग होजाता है (तत्र)वहाँ (बाह्ये) बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादिके (विमुक्ते सति)छूट जानेपर(मनीषिणा)बुद्धिमान

पको (ननु कथं श्वेद) क्यो शोक करना चाहिये ? इस जगतमें (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिन) प्रतिदिन (विश्लेषशोक-व्यथा) वाहरी वस्तुओंके वियोगके शोकके कष्टको (विमुच्यताम्) छोड़ देना ही उचित है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने स्त्री पुत्रआदिके मोहके नाशका व उनके शोकके नाशका उपाय बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको यह विचारना उचित है कि यह शरीर जिसका इस अशुद्ध संसारी जीवके साथ अनादिकालका सम्वन्ध है वह भी एक भवमें जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहता है, यद्यपि यह फिर कर्मोंके उदयसे प्राप्त होजाता है तौभी फिर मरण होनेपर छूट जाता है। हम जो चाहे कि इस शरीरका सम्बध न हो तो हमारे मनकी बात नही है। कर्मोके उदयसे बारबार इनका सम्बन्ध होता ही रहता है और छूटता ही रहता है। जब कर्मोका बध बिलकुल नही रहता है तब तो सदाके लिये शरीरका सम्बन्ध छूट जाता है। कहनेका मतलव यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानीकी तरह मिला हुआ है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध किये है, वे भी जब छूट जाते हैं तवस्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर धन राज्य आदि जो बिलकुल वाहरी पदार्थ हैं उनका सम्वन्ध क्यो नही छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नही है उसके चले जानेका क्या खेद? इसलिये बुद्धिमानोंको कभी भी अपने किसी माता पिता, भाई वन्धु, पुत्र व मित्रके वियोगपर या धनके चले जानेपर शोक नही करना चाहिये। इनका सम्बन्ध जो कुछ है भी वह शरीरके साथ है जब यह शरीर ही छूटेगा तब इनके छूटनेका क्या विचार ? इसलिये पर पदार्थोके सयोग मे हर्ष व वियोगमे शोक न करना ही बुद्धिमानी है।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत् में कहते है :—

तड़िदिव चलमेतत् पुत्रदारादिसर्वं ।
किमिति तदभिघाते विद्यते बुद्धिमद्भिः ॥
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य ।
व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनं ॥ २६॥

भावार्थ—ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ विजलीके चमत्कार के समान चंचल हैं। इनमेसे किसीके नाश होनेपर बुद्धिमानोंको शोक क्यों करना चाहिये, अर्थात् शोक कभी न करना चाहिये। क्योंकि निश्चयसे सर्व जगतके पदार्थोंका यह स्वभाव है कि उनमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। जैसे अग्निमे उष्णता कभी नही जाती वैसे उत्पत्ति, नाश व स्थितिपना कभी नही मिटता। हरएक पदार्थ मूलपनेसे स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओंकी अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है। पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है। जगतमें सब अवस्थाए ही दिख-लाई पड़ती हैं इनका अवश्य नाश होगा इसलिए वस्तुस्वभावमें शोक करना मूर्खता है। जो किसीका मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमें मरण व जन्म हुआ हैं वह वस्तु स्थिर भी है। जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा। तब मानव जन्मका नाश हुआ, कुत्ते के जन्मका उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानवम था वही कुत्ते मे है। ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानीको सदा समताभाव रखना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

है चिरकाल कुसङ्गति जिनकी जीव शरीर प्रसिद्ध जगतमें ।
साथ रहे नित विरह न होवै तदपि छुटत है दोउ जगतमे ॥
तो फिर पुत्र धनादि वाह्य ये छुटत होत किम खेद जगतमे ।
बुद्धिमान इम जान सदा ही शोक करो नहि कोय जगतमें ॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि पेटकी चिंता वडी दुखदाई है वह चिन्ता धर्म, यश, सुखका नाश करती है—

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतयः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
चितानन्तरलब्धभोगविभया देवाः समं भोगिभिः ॥
मर्त्यानां विधिना विरुद्धमनसा वृत्तिः कृता सा पुनः ।
कष्टं धर्मयश.सुखानि सहसा या सूदते चिंतिता ॥२७॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धमतसा) विपरीत मनवाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्माने (तिर्यंच.) पशुओको (तृणपेर्णनब्धधृतय.) तिनके और पत्तोंको खाकर संतोप रखनेवाले व(स्थलीशायिनः) जमीनपर शयन करनेवाले तथा (भोगिभिः सह) भोगभूमियोके साथ २ (देवाः) देवोको (चिन्तानन्तरलब्धभोगविभवा.) चिन्ता करते ही भोगोको भोगनेवाले व ऐश्वर्यवान (सृष्टाः) रचे(पुनः) फिर (मर्त्यानां) कर्मभूमिके मनुष्योकी (सा वृत्ति.) ऐसी आजीविकाकी पद्धति (कृत.) करदी (या चिंतिता) की जिसकी चिंता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयश.सुखानि) धर्म, यश तथा सुखोंको (सूदते) नाश कर देती है। (कष्ट) यह बड़े दुखकी बात है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि हम मनुष्यों को अपना पेट पालनेके लिए भी वहुत कष्ट कहना पड़ता है।

पशुओंके तो ऐसा कर्मका उदय है जिससे अधिकांश पशु स्वयं पैदा होनेवाले घास पत्तोको खाकर रह जाते हैं व जमीनपर सो जाते हैं। देवोके ऐसा पुण्य का उदय है कि भूख उनको इतनी कम लगती है कि यदि एक सागर वर्षोकी आयु हो तो १००० वर्ष पीछे भूखकी वेदना होती है। भूखकी चिंता होते ही उनके इस जातिके परमाणु कण्ठमे होते हैं जिनसे अमृतसा भीतर झड़ जाता है और देवोकी भूख मिट जाती है। इसीसे उनके मानसिक आहार है। वे कभी ग्रास ले करके कोई भी अन्न या अन्य पदार्थ नही खाते। भोगभूमिके मानवोंके यहाँ भोजनांग वस्त्रांग भाजनांग आदि दस जातिके पृथ्वी कायधारी कल्पवृक्ष होते हैं। उनसे चिंता करते ही इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं। उनके भोजन वहुत अल्प होता है। दीर्घकायी होनेपर भी आँवला प्रमाण अमृतमई भोजन करके तृप्त हो जाते हैं। परन्तु मानव समाज को कर्मभूमिमे जन्म लेकर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प विद्या इन छ प्रकारके साधनोको करके पहले तो धन कमाना पडता है फिर पाँचो इन्द्रियोके भोगोंके लिए सामग्री इकट्ठी करनी पडती है। इन कार्योमे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानव ऐसे फस जाते हैं कि नीति व अनीतिको भूल जाते है, हिसा, असत्य चोरी आदि पापोसे धन इकट्ठा करते हैं, वड़े कष्टसे निर्वाह करते हैं, खानपानमे सतोष न रखकर अभक्ष्य व कामोद्दीपक व मादक पदार्थ खाने लगते हैं। मनकी चचलता वढ़ जानेसे वेश्यासक्त व परस्त्री गामी हो जाते है तथा इंद्रियोके भोगोंमें व धनके सचयमे ऐसे लवलीन हो जाते है कि उनको धर्मकी परवाह नही रहती है, वे धर्मसाधनको मानो नाश ही कर डालते है। अन्याय व अनुचित व्यवहारसे जब दूसरे मानवोंको

सताते है तब उनका यश भी जाता रहता है और सच्चे आत्मीक सुखकी तो उनको गंध भी नहीं आती है। वे यदि आत्मीक तत्त्वपर लक्ष्य देते तो इस नरभवमें सच्चे सुखको पासकते थे परन्तु वे अ धे होकर इस रत्नको जो अपने ही पास है गमा बैठते हैं। उनको रात दिन भोगोकी व पैसे कमानेकी चिता सताया करती है। कही खर्च अधिक कर डाला व आमद कम हुई तो कर्जदार होकर घोर चिताकी दाहमे जलते रहकर शीघ्र प्राणरहित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके ऐसा विपरीत कार्यका उदय है कि जिससे वे महादुःखी रहते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि ऐसे कष्टमय जीवनको पारकरके इस कर्म-भूमिके मनुष्य सम्बन्धी भोगोमे लिप्त होना मूर्खता है। इस शरीरमे जहाँ भोगोपभोगके लिए इतने कष्ट होते हैं वहाँ इस तनसे संयमका पालन हो सकता है जिसको न पशु न भोगभू-मियाँ और न देव पालन कर सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान मानवोंको उचित है कि संतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक जीवन वितावे और वैराग्य पानेपर साधु होजावे और अपने सच्चे सुखको पाते हुए कर्मोके नाशका उद्यम करें जिससे कभी न कभी मुक्ति के स्वामी होजावे। मनुष्य-जन्मको सफल करना यही बुद्धिमानी है। श्री अमितगति, सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते हैं—

जन्मक्षेत्रे पवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे।
देहेव्याधादिसिन्धु प्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे॥
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीव !नाश।
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु हत ममतो धर्मकर्माणि नित्यम्॥४०५

भावार्थ—इस पवित्र जन्मके क्षेत्रमें आकर तू अति चंचल, दोषरूपी सर्पोसे भरे हुए रोगादि रूपी समुद्रमे गिरनेवाले, पाप

रूपी पानीसे पूर्ण घड़ेके समान तथा नाना प्रकार मलसे भरे हुए इस देह मे अपनेपने की बुद्धि करके हे आत्मान्! तू नाशको प्राप्त होगा, ऐसा विचार करके इस शरीरसे ममता टाल दे और धर्मके कार्योंको कर।

मूल श्लोकानुसार छन्द मालती।

कर्म विधाताने पशुओंको घासपात भोगी थलशायी।
देव और भू भोग नरोंको चिंता करते भोग कराई॥
मर्त्यलोकके मानव पापी, वृत्ति जिन्होने दुखप्रद पाई।
धर्म कीर्ति अर सुख विघटावे, यह काहे विपरीत रचाई॥२७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि अज्ञानी जीवको शांतसुख की इच्छा नही होती। (मालिनीवृत्त)

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमंग।
भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम्॥
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनी कीर्तिकान्तां।
प्रशममुखसुखाब्धिगाहसे त्वं न जातु॥२८॥

अन्वयार्थ—(अंग) हे मन! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवोकी स्त्रियोंको (भजसि) भोगना चाहता है (पातालं यासि) कभी तू पातालमे चला जाता है (धरणिपृष्ठं भ्रमसि) कभी पृथ्वीके ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी मनके अनुकूल धनको (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धां) अति उज्वल (व्यापिनी) जगतमें फैलनेवाली (कीर्तिकान्ता) कीर्तिरूपी स्त्रीको (अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्वं) तू (जातु) कभी भी (प्रशममुखसुखाब्धि) शांतिमय सुख समुद्रमें (न गाहसे) नहाना नही चाहता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने दिखाया है कि इन्द्रियोके भोगोके करनेसे सुख मिलेगा इस भ्रम बुद्धिमे उलझा हुआ यह मन नाना प्रकारकी कल्पनाए किया करता है। कभी तो चाहता है कि स्वर्गमे जाकर पैदा हूँ और वहाँ बहुत सुदर देवियोके साथ क्रीड़ा करू, कभी भवनासीके भवनोका ख्याल कर लेता है जो पाताललोकमे रहते हैं—उनके समान घूमना व सुखी रहना चाहता है, कभी पृथ्वीमे अनेक देश, नगर, ग्राम, पर्वत, नदी, बाजार, गली आदिकी सेर करना चाहता है। अथवा यह मन ऐसा मूर्ख है कि यह मनसे ही देवियोको भोग लेता है, मनसे ही पातालमे घूम आता है, मनसे ही सर्व पृथ्वीकी सेर कर लेता है, तथा यह चाहता है कि मनके अनुकूल लक्ष्मी प्राप्त हो तथा जगतमे मेरा ऐसा यश फैले कि मैं प्रसिद्ध हो जाऊ। इस प्रकार की कल्पनाओंको करता रहता है। इन कल्पनाओंके कारण अपनी इच्छाओंको बहुत बढ़ा लेता है। तब उनकी पूर्तिके लिए आकुलता करता है, मनको रात दिन चितामे ही फस जाना पड़ता है। जिन पदार्थोको चाहता है और वे प्राप्त नहीं हैं, उनके लिये तो मिलानेका उद्यम करते हुए चिंतित रहता है, जो पदार्थ हैं उनके बने रहनेकी चिता करता है, जो पदार्थ थे और उनका किसी कारणसे वियोग होगया, उनके फिर मिलने की आशासे चिता करता है।

इसपर निरतर अशांतिके दाहमे जला करता है और वह सुखशातिका समुद्र जो अपने ही पास है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है उसकी तरफ निगाह उठाकर भी नहीं देखता है। यदि एक दफे भी उस अनुपम आत्मिक सुखका स्वाद लेले तो फिर इसकी सारी आकुलता मिटानेका साधन इसको मिल

जावे । आचार्यने इस मनकी मूर्खताको इसीलिये जताया है कि हमे मनके कहनेमे न चलकर सुख शांति का उपाय अवश्य करना चाहिये । इंद्रियोके पीछे पडना आकुलताका बढाने ही वाला है । सुभाषितरत्न सदोहमे श्री अमितगति महाराज कहते है—

सोख्य यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्प. ।
प्राप्नोति पापरहित विगतान्तरायम् ॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्य ।
कि तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्त. ॥६४॥

भावार्थ—जो इंद्रियरूपी शत्रुओके घमंडको जीतनेवाला है वह इस जगतमे जैसा पापरहित व विघ्नरहित. निराकुल व आत्मीक सुख पालेता है जिसको वह मानव नही पासकता जो अज्ञानी है व आत्माको नही पहचानता हैं । वैसे सुखको क्या महान इंद्रियोकी इच्छारूपी आगमे जलता हुआ है मन जिसका ऐसा प्राणी कभी पासकता है ? अर्थात् कभी नही पासकता है, इसलिए शांतिके प्राप्त करनेका ही यत्न करना बुद्धिमानी है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

रे मन तू भोगे देवपत्नी कभी तो ।
जावे पाताल देखता भूमितलको ॥
निर्मल कीर्तीको प्रचुर धन नित्य चाहे ।
पर शम सुखसागरमे कभी नाव गाहे ॥२८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह मन कभी जिनवाणी का सेवन नहीं करता है—

भोक्तु भोगिनितविनीसुखमधश्चितां पनीपत्स्यसे ।
प्राप्तु राज्यमनन्यलभ्यविभव क्षोणी चनीकस्यसे ॥

लप्तु मन्मथमथरा सुरवधूर्नाकं चनीस्कद्यसे ।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपम जिनवचस्त्वं नापनीपद्यसे ॥२९॥

अन्वयार्थ—(रे) रे मन (त्व)तू कभी तो(अध) पातालमे जाकर (भोगिनितबिनीसुख) नागकुमारी देवियोके सुखको (भोक्तु)भोगनेके लिये(चिंता)चिंता(पनीपत्स्यसे)करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभव) दूसरेके पास प्राप्त न होसके ऐसी विभूतिवाले(राज्य)चक्रवर्तीकि राज्यको (प्राप्तु)प्राप्त करनेके लिये (क्षोणी)इस पृथ्वीपर(चनीकस्यसे)आनेकी इच्छा किया करता है तथा कभी(मन्मथमथरा)कामसे उन्मत्त ऐसी सुरवधू:) स्वर्गवासी देवोकी देवागनाओको (लुप्तु) पानेके लिये (नाक) स्वर्गमे (चनीस्कद्यसे)जानेको उत्कठा किया करता है(भ्रान्त्या) इस भ्रममे पडकर(हि)असलमे(ह्यमृतोपमं)अमृतके समान सुख दाई(जिन वच)जिनवचनको(नापनीपद्यसे)नही प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणीके आनदके लेनेसे दूर २ भागता है यही खेद है।

भावार्थ—यहा आचार्य फिर मनको उल्हना देते हैं कि तू वडा मूर्ख है जो रातदिन इद्रियोके विषयोमे लम्पटी रहता है और यही चाहता है कि मैं भवनवासी देवोमे पैदा होकर नाग-कुमारी स्त्रियोका भोग करु व स्वर्गम जाकर स्वर्गकी महा मनोहर स्त्रियोके साथ काम चेष्टा करु व नरलोकमे चक्रवर्तीकि समान विभूति पाकर छ्यानवे हजार स्त्रियोका एक साथ अपनी विक्रियाके वलसे भोग करु । खूब पाचो इद्रियोके विषयोको भोगू इस चितामे रहता हुआ व चाहकी दाहमे जलता हुआ कभी भी सुखी नही होता है । एक तो चाह करने मात्रसे इद्रियोके सुख मिलते नही । यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोसे तृप्ति होती नही और अधिक भोगनेकी चाह बढ जाती

है। तूने अज्ञानी होरहा है, ऐसा समझता है कि इद्रियोके भोग मे ही सुख है। तूने कभी अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवानकी अमृतमई वाणीके सुननेकी तरफ नही दिया। यह भगवानकी वाणी हमको सच्चा मार्ग बताती है। यह हमारा यह भ्रम मिटाती है कि ससारके विषयभोगोमे सुख है। यह आत्माके भीतर भरे हुए सुखसमुद्रका दर्शन कराती है और उसीमे गोता लगानेकी व उसीके शात जलको पीनेकी प्रेरणा करती है। जिन्होंने अनेकात्मयी श्रीजिनवाणीको समझा है। वे सम्यग्दृष्टी होकर सदा सुखी होजाते हैं। भेदज्ञानकी वह दवा ज्ञानियोको मिल जाती है जिसके प्रतापसे उनकी आत्माको उन्नति करनेका मार्ग मिलता है। इसलिये कहते हैं कि—हे मन ! तू बावलापना छोड और एकाग्र होकर जिवाणीका अभ्यास कर। यह सूर्यके समान पदार्थोंको यथार्थ दिखानेवाली है और सर्व दु.खोसे छुडानेवाली है। यह संसारके रोगको शमन करके आत्माको स्वाधीन बनानेवाली है। श्रीपद्मनंदि मुनि सरस्वतीकी स्तुतिमे कहते हैं—

विधायमान. प्रथमं त्वदाश्रयम् ।
श्रयन्ति तन्मोक्षपद महर्षय. ॥
प्रदीपमाश्रित्य ग्रहं तमस्तते ।
यदीप्सितु वस्तुलभेत मानवः ॥

भावार्थ- महान् मुनिजन पहले तेरा ही आश्रय लेते है फिर मोक्षपदमे जाते है जैसे अ.धेरे घरमे दीपकके सहारे ही मानवको इच्छित वस्तु मिल सकती है। वास्तवमे परम कल्याणकारी जिनवाणीका अभ्यस ही परमोपकारी है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

रे मन तू चाहे नागिनी सुक्ख भोगूं ।
स्वर्गोमें जाकर देवनारी सु भोगूं ॥
होकर चक्री मै राज्य सुख सार होवे ।
भ्रममें भूला जिन वचन अमृत न जोवे ॥२९॥

उत्थानिका—फिर भी कहते हैं कि हे मन ! तू ससार वनमें भ्रमण मत कर—

भीमे मन्मथलुब्धके वहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे ।
रौद्रारम्भहृषीकपाशिकगणे भृज्जद्वतैणद्विपि ? ॥
मा त्वं चित्तकुरंग ! जन्मगहने जातुभ्रमी ईश्वर ।
प्राप्तु ब्रह्मपद दुरापमपरैर्यद्यस्ति वांछा तव ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ईश्वरचित्तकुरग)हे समर्थ मनरूप हिरण(यदि) (तव वाछा) तेरी इच्छा (अपरं) दूसरोसे (दुरापम्) कठिनतासे प्राप्त होने योग्य ऐसे(ब्रह्मपद,आत्मीक मोक्षपदको(प्राप्तुं) पानेकी हो तो तू (मन्मथलुब्धके) कामदेवरूपी पारधीसे वासित (बहुविधव्याधिदीर्घद्रुमे)नानाप्रकार रोग व मानसिक कष्टोंके बड़े २ वृक्षोसे भरे हुए(रौद्रारम्भहृषीकपाशिकगणे)तथा भयानक आरभ करानेवाले इद्रियरुपी भीलगणोसे पूरित तथा,ऐणद्विषि) मनरूपी हिरणके शत्रुओंसे युक्त भयानक(जन्मगहने)संसाररूपी वनमें,वत,व्यर्थ ही (त्व तू (जातु मा भ्रमी,कभी न भ्रमण कर।

भावार्थ—आचार्य फिर भी अपने मनको समझाते हैं कि—हे मन ! तू वडा वावला है, तू विश्राति नही भजता, तू चाहता है कि मुझे शात आत्मानदरूपी जल मिल जावे जिससे तेरी अनादिकी तृष्णारूपी प्यास बुझे। परन्तु तू उस संसाररूपी वनका

मोह नही छोडता है जहा शात रसरूपी जलका नाम तक नही है, जहां भयानक इद्रियोकी चाहकी दाह सदा सताती है व जहा कामदेवरूपी शिकारी सदा बाण मारके तेरा नाश करता है तथा जहाँ बड २ वृक्ष तो हैं परन्तु वे सर्व दु खदाई हैं—रोगरूपी कांटो से भरे हुए व मानसिक कष्टरूपी कटीले पत्तोसे छाए हुए हैं, जो इस मन रूपी हिरणके महान शत्रुओसे व्याप्त है। जो वन महा भयानक है जहां तू अपनी प्यास बुझानेको इद्रियरूपी भीलोकी पल्लियोंमें जाता है परन्तु वहांसे शांतरसको न पाकर उल्टा और अधिक प्यासा होजाता है। इससे यह उचित है कि तू इस संसाररूपी वनका मोह छोडे और इस वनके वाहर जो आत्मा-रूपी उपवन आत्मानदरूपी जलसे भरे हुए स्वात्मानुभव रूपी सरोवर सहित है उनकी तरफ जा। तब ही तुझे सुख मिलेगा। वास्तवमे यह मन बडा चंचल है। सामायिककी प्राप्ति तव ही होसकती है जब मन संसारसे उदास होकर आत्मीक सुखका अभिलापी होवे। श्री अमितिगतिआचार्य सुभापितरत्नसदोहमें चित्तको इसतरह समझाते है—

त्यजत युवतिसौख्यं क्षातिसौख्य श्रयध्व ।
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम् ॥
जहत विषयसग ज्ञानसग कुरुध्व ।
अमितगतिनिवास येन नित्य लभध्वं ॥१९॥

भावार्थ—तू स्त्रियोंके सुखको छोड़ शांतमई सुखका आश्रय ले, ससारके मार्गसे विरक्त हो व मोक्षमागमे रमण कर, इद्रियो के विषयोंके सगको छोड तथा ज्ञानकी सगति कर जिससे अविनाशी मोक्षधामका निवास प्राप्त होजावे।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

मन हिरण न भ्रम तू भीम ससार वन है ।
जहं काम शिकारी अधि तरु व्याधि घन है ॥
जह इन्द्रिय दुष्ट भील पीड़ा करत है ।
यदि दुर्गम शिवपदकी चाह तेरे वसत है ॥३०॥

उत्थानिका—आगे श्री जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम २ गुणोकी प्राप्ति होवे—

(हरिणी वृत्त)

व्यसननिहृतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसगति ।
करणविजितिर्जन्मत्रस्ति कषायनिराकृति. ॥
जिनमतरति संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि ।
तरितुमनसो जन्मांभोधिं भवतु जिनेन्द्र ! मे ॥३१॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान ! (ज मांभोधिं) ससार समुद्रको (तरितुमनस.) तिरनेकी मनशा रखनेवाले (मे) मेरेको (तपश्चरणध्वनि) तपके साधनके मार्गमे (व्यसननिहृतिः) द्यूत रमण आदि सातों व्यसनोका नाश (ज्ञानाद्युक्तिः) ज्ञानकी उन्नति (गुणज्ज्वलसगति.) निर्मल गुणवालोकी सगति (करण-विजित) इंद्रियोकी विजय (जन्मत्रस्ति.) ससारसे भय (कषाय-निराकृति.) क्रोधादि कषायोका त्याग इतनी बाते (भवतु) प्राप्त होवें ।

भावार्थ—यहापर आचार्य कहते है कि जो भव्य जीव ससारसमुद्रसे पार होना चाहता है उसको उन दोषोको दूर करनेकी व उन गुणोके प्राप्त कहनेकी भावना करनी चाहिये जिनके कारण सुखसे भवसागर पार कर लिया जावे । पहली बात

यह है कि इस मनको द्यूत रमण, मॉसाहार, मद्यपान, वेश्यासक्ति परस्त्री रमन, शिकार और चोरी व ऐसे ही और भी व्यसनोका सामना न पडे। जिन बुरी आदतोंमे पडनेसे हमारा इह लोक और परलोक दोनों बिगडते हैं वे सब आदते व्यसनोके भीतर शामिल है। हरएक मानवको जो अपना हित करना चाहता है यह आवश्यक है कि खेतके ककड पत्थरकी तरह व्यसनोको दूर फेंक देवे। जिनका मन किसी व्यसनमे उलझा होता है उनके मनमे आत्मज्ञान नही बस सकता है और आत्म--ज्ञानके विना अपना हित नही हो सकता है। इसलिये दूसरी बात यह चाहता है कि ज्ञानकी उन्नति हो। ज्ञानके पीछे चरित्र वढाना चाहिये। इसलिये तीसरी बात यह चाही गई है कि पवित्र गुणधारी व्यक्तियोंकी सगति रहे क्योकि सच्चारित्रवान पुरुषोके आचरण का बडा भारी असर बुद्धिपर पडता है। फिर चारित्र जो वीतराग भाव है उसके कारण जो मुख्य उपाय हैं उनकी भावना की जाती है इसलिये चौथी बात यह है कि इद्रियोका विजय हो। वास्तवमे जितेन्द्रिय मानव हो सतोष व शॉतभावको पासकता है। बिना इंद्रियोको अपने आधीन किये न श्रावक न मुनि कोइ भी अपने २ योग्य आचरणको नही पाल सकते हैं। पॉचवी बात यह चाही गई है कि संसारसे भय हो—क्योकि जिसको यह भय होगा कि मेरा आत्मा इस जन्म मरणरूपी भयभीत संसारवनमे न भटके वही मोक्ष होनेका चारित्र पालेगा। छठीवात यह है कि कषायोको दूर किया जावे। क्यकि क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों के आधीन ही प्राणी आकुलता के फदमें फंस जाता है तथा जितना २ कषायोंका दमन होता है उतना वीतराग भाव प्रगट होत रहता है। कषायोके विजयसे ही जिनमत जो वीतराग विज्ञानमय है व स्वानुभवरूप

है उसमे प्रीति होती है। इसलिए सातमी बात यह चाही गई है। मुक्तिका उपाय मुनिका चारित्र है इसलिये आठमी वात चाही गई है कि परिग्रहका त्याग करु। मुनि होकर १२ प्रकार तप करना चाहिये। क्योकि तपके विना कर्मोंकी निर्जरा नही होसकती है। इसमे भी मुख्य तप ध्यान है, ध्यानहीसे केवल ज्ञान होता है, ध्यानहीसे निर्वाण होता है, ध्यानहीका वेग ध्यानीको ससारसमुद्रसे पार करके शिवद्वीपमे पहुँचा देता है। इसलिये तप करनेके साधनरूप आठ वातो की भावना भाई गई है। वास्तवमे जो तपस्वी इन आठ गुणोसे अलंकृत होता है वही सिद्ध होकर सम्यक्त आदि आठ गुणोसे विभूपित होजाता है। ध्यानहीसे मुक्तिकी सिद्धि होती है। उस ध्यानके लिये श्रीशुभ चन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

विरज्य कामभोगेपु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्व यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥

भावार्थ—जव काम भोगोसे विरक्त होकर शरीरमे भी अभिलाषाको छोडा जाता है तव ममता रहितपना प्राप्त होता है तब ही ध्यानी होसकता है अन्यथा नही।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

व्यसन रहे दूर ज्ञान उन्नति सुसंगति।
करण विजय भव भय क्रोध मानादि निकृति॥
जिनमत रुचि संग त्याग श्री जिनजु होवे।
भवसागर तरना हेतु तप मोहि होवे ॥३१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संसार-वनमे वास करना दु.खदायक है—

चित्रव्याघातवृक्षे विपयसुखतृणास्वादनासक्तचित्ता ।
निस्त्रिशैरारमन्तो जनहृरिणगणा सर्वत सचरद्भि. ।।
खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदैर्भीमरूपै ।
तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दु खदावाग्नितप्ते ।३२।

अन्वयार्थं—(चित्रव्याघातवृक्षे) नानाप्रकारकी आपत्तिरूपी वृक्षोसे भरे हुए (दु खदावाग्नितप्ते) दु.खरूपी दावानलसे तप्तायमान (भवगहनवने) इस ससाररूपी भयानक जगलमे (आरमन्त) घूमनेवाले (विपयसुखतृष्णास्वादनासक्तचित्ता:) विषयोके सुखरूपी तृष्णाके स्वादमे चित्तको लगानेवाले (जनहरिणगणा) प्राणीरूपी हिरणोके समूह (यत्र) जहाँ (सर्वत) सर्व तरफ (निस्त्रिशै)निर्दयी(सचरद्भि) घूमनेवाले (भीमरूपै भवमरणजराश्वापदै) भयानक जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवोके द्वारा (सद्य, निरतर (स्वाद्यते) भक्षण किए जाते हैं (तत्र) वहाँ (क्व अवस्थां कुर्म.) हम किस जगह रहें।

भावार्थ—जसे कोई ऐसा सघन जगल हो जहाँ बड़े टेढे २ वृक्षोके समूह हो व दावाग्नि लगी हुई हो और चारो तरफ सिह व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घूमते हो और जहाँ तिनकेका चरने वाले हिरण निरतर हिंसक प्राणियोके द्वारा खाये जाते हो ऐसे वनमें कोई रहना चाहे तो कैसे रह सकता है ? जो रहे वही आपत्तियोमें फसे, इसी तरह यह ससार भयानक है जहाँ करोडो आपत्तियाँ भरी हुई हैं तथा जहाँ निरन्तर दु खोकी आग जला करती है व जहाँ प्राणी नित्य जन्मते हैं, बूढे होते हैं तथा मर जाते है, ये प्राणी इंद्रियोके विषयोके सुखमे मगन होजाते हैं,

:खवर रहते हैं वश शीघ्र ही कालके गालमे चबाए जाते हैं, ऐसे ससार वनमे सुखशान्ति कैसे मिल सकती है? बुद्धिमान प्राणीको तो इससे निकलना ही ठीक है।

शुभाषितरत्नसदोहमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं--

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगत भीत जराव्याधत--
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु.खतरुमत्यसारकान्तारगम् ।
क. शक्नोति शरीरिणम् त्रिभुवने पातु नितान्तातुर
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकर जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ--जो प्राणी तीव्र रोगोके अपार दु खोमें भरे हुए संसारवनमे हो व बुढापारूपी शिकारीसे भयभीत रहता हो व .यभीतरूपी बाघके भयकर मुखमे प्राप्त हो उस महान् आकु-लतामे फंसे हुए प्राणीको तीन भुवनमे जन्मजरा मरणको नाश करनेवाले जिनधर्मके सिवाय और कोई बचानेको समर्थ नही है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

भव वन भयकारी दु.ख अग्नि प्रचारी ।
विपति तरु भराई तृण विपय स्वादकारी ॥
जन मृग बहु घूमे जन्म अरु मृत्यु दु खमे ।
हिसक पशु खावे हो कथं शातिसुखमें ।

उत्थानिका--आगे कहते है कि बुद्धिमानोको ससारमे लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिए।

भुजगप्रयात छन्द ।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा ।
न कांता न माता न भृत्या न भूपा ॥

यमालिंगितु रक्षितु सति शक्ता ।

विचिन्त्येति कार्य निज कार्यमार्यैः ॥३३॥

अन्वयार्थ--(यमालिगितु) यमराज जो काल उससे आलिगन किए हुए प्राणीको(न वैद्या.) न वैद्य (न पुत्रा)न पुत्र (न विप्रा:) न ब्राह्मण (न शक्रा) न इन्द्र (न काता) न स्त्री (न माता) न माता (न भृत्या) न नौकर (न भूपा.) न राजागण (रक्षितु) बचानेके लिए (शक्ता सति) समर्थ हैं (इति) ऐसा (विचिन्त्य) विचार कर (आर्यै.) सज्जन पुरुषोको (निज कार्य) अपना आत्मकल्याण (कार्य) करना योग्य है ।

भावार्थ--यहापर आचार्य यह सकेत करते हैं कि यह मानव जन्म बहुत अल्पकाल रहनेवाला है। निरतर यहा मरणका भयहै, यह नियम नही कि कब मरना होगा । और जब यकायक मरण आजायेगा तब कोई वैद्य हकीम किसी दवासे बचा नही सकता, न तब अपने कुटुम्बी जन स्त्री पुत्र माता वहन आदि रोक सकते है न नौकरचाकर सिपाही व राजा आदि मरणको भगा सकतेहैं। और तो क्या, बड़े २ इन्द्रादि देव भी मरणसे न आपको बचा सकते हैं, न दूसरोको बचा सकते है न किसी और पूज्यनीय देवमे शक्ति है कि किसीको मरणसे रोक सके। जब ऐसा नाजुक मामला है तब साधु व सज्जन पुरुषोको अपना जीवन बहुत अमूल्य समझकर इसका सदुपयोग करना चाहिए । आत्मोन्नति करना ही इस नरजन्मका कर्तव्य है । इसलिए इस कार्यमें ढील न करनी चाहिए । ढील करनेसे ही पीछे पछताना पड़ेगा जो बुद्धिमान इस नरजन्मको संसारके मोहमें फंसकर खो देते है उनको पीछे बहुत पछताना पड़ता है । नरजन्मकी सफलता करना ही बुद्धिमानी है । सुभाषित रत्नसदोहमे श्री अमितगति महाराज कहते हैं--

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते।
दु:खोर्वीजप्रपचे भवगहनवनेऽनेकयोऽन्यद्विरौद्रे ॥
भ्राम्यन्नप्रापि नृत्व कथमपि शमत. कर्मणोदुष्कृतस्य।
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वचितस्त्वं तदात्मन्।४२४

भावार्थ—यह ससारवन महाभयानक है जहां तीव्र दु खको देनेवाले जन्म जग मरणरूपी हिंसक जीवोके समूह विचर रहे हैं, व जहा दु खोके कारणोका ही जाल है, ऐसे वनमे घूमते हुए पाप कर्मोके कम होनेसे बहुत ही कठिनतासे नरजन्म पाया है ऐसी स्थितिमे हे आत्मन्! यदि तू थिर बुद्धि करके धर्मका साधन न करेगा तो तू वास्तवमें यहां ठगा गया है, ऐसा माना जायगा।

मूल श्लोकानुसार भुजगप्रयात छन्द।

जवे मर्ण आवे न कोई बचावे।
न माता न कांता न सुत इन्द्र आवे॥
न वैद्या न विप्रा न राजा न चाकर।
यही जान बुधजन निजातम करमकर ॥३३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीरको क्षणभंगुर जानकर मोहका त्याग करना चाहिये।

विचित्रै रुपायैः सदा पाल्यमानः।
स्वकीयो न देह सम यत्र याति॥
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र।
प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोह ॥३४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससारमे (विचित्रै) नानाप्रकारके

(उपायैः) उपायोसे (सदा) नित्य (पाल्यमान.) पालन किया हुआ (स्वकीय.) अपना ही (देह.) शरीर (समं) साथ (न याति) नही जाना है (तत्र) वहां (कथ) किस तरह (बाह्य-भूतानि) बाहर ही बाहर रहनेवाली (वित्तानि) धन आदि सपत्तियाँ साथ जासकती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थमे व कही भी (मोह) मोहभाव (न कृत्य.) न करना चाहिये।

भावार्थ—यहा आचार्य फिर भी समझाते हैं कि हे भव्य जीव! तू क्यो परपदार्थके मोहमे पागल होरहा है। स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, राजा, प्रजा, नौकर, चाकर ये चेतन पदार्थ तथा घर, वस्त्र, वासन आदि अचेतन पदार्थ ये सब मात्र इस शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। जब शरीर ही इस जीवसे भिन्न है तब ये पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं। जगत्के सर्व ही पदार्थोकी सत्ता मेरी आत्माकी सत्तासे भिन्न है। यह भेद विज्ञान एक ज्ञानीके हृदयमे रहना योग्य है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है तथा पर पदार्थोके द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मामे आत्माका द्रव्य जो अनत गुणोका समुदायरूप अखड पिड है सो तो उसका अपना द्रव्य है। जितने असख्यात प्रदेशोको लिए हुए यह आत्मा है वह आत्माका क्षेत्र है, इस आत्माका जो अवस्थाविशेष या पर्यायें हैं सो उसका काल है, आत्माके जो शुद्ध गुण हैं वह इसका भाव है। जब कि आत्माके सिवाय अन्य सर्व आत्माओके व अन्य पदार्थोके कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव इस आत्मामे नही है इसलिये उन सबका इस आत्मामे नास्तित्व या अभाव है। इसतरह स्याद्वाद नयके द्वारा जो अपने आत्मामे एक ही समयमे अस्तित्व नास्तित्वको व भावाभावको समझ लेता है वही मात्र एक अपने स्वरूपको अपना मानता है

और सबको अपनेसे भिन्न पर जानता है। जब कोई परवस्तु अपने आत्माकी नही है तव परवस्तुसे मोह करना वास्तवमें नादानी है। सुभाषितरत्नसदेहमें यही आचार्य कहते हैं—

न संसारे किंचित् स्थिरमिह निजं वास्ति सकलें ।
विमुच्यार्च्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम् ॥
अहो मोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भक्त-
स्ततो मोक्षोपायाब्दिमुखमनसाँ सौख्यकुशलम् ॥३४०॥

भावार्थ—इस सपूर्ण ससारमे न कोई वस्तु स्थिर है न अपनी है सिवाय पूज्यनीय निर्मल शक्तिके उत्पन्न करनेवाले रत्नत्रय धर्मके। वडे खेदकी वात है कि मोहसे दु खी जीवोकी विरक्ति तव भी ससारसे नही होती है तव फिर जो मोक्षके उपायसे विरुद्ध मनवाले हैं उनको सच्चा सुख नही हो सकता।

मूलश्लोकानुसार भुजंगप्रयात छन्द ।

यतन बहु कराए सदा पालनेको ।
सुनिज देह भी साथ नहिं चालनेको ।
धनादिक बहिर्वस्तु किम साथ होवे ।
सुधी जानकर कौनसे मोह बोवे ॥३४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञानीको इष्ट व अनिष्ट पदार्थोंमे समताभाव रखना चाहिये।

मदाक्रांता वृत्त

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने काँचने लोष्ठवर्गे ।
सौख्ये दु.खे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे ॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढ. ।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्था ॥३५॥

अन्वयार्थ—(य)जो कोई(शिष्टे दुष्टे) सज्जनमें या दुर्जन मे (सदसि विपिने) सभामें या वनमे(कांचने लोष्ठवर्गे)सुवर्णमें या कंकड़ पत्थरमे (सौख्ये दु खे) सुखमे व दु खमें (शुनि नर-वरे) कुत्तेमें व श्रेष्ठ मनुष्यमे (सगमे वियोगे) इष्टके संयोगमे या वियोगमे (सदृश) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्) सदाही (धीर) धीर तथा (द्वेषरागव्यपो) रागद्वेष रहित वीतरागी (भवति) रहता है (तस्य) उस (प्रथितमहस) प्रसिद्ध तेजस्वी के पास (सिद्धि) मुक्ति (प्रौढा स्त्री इव) युवती स्त्रीके समान (करस्था) हाथमे ही आजाती है।

भावार्थ—यहा आचार्य कहते हैं कि जैसे वीरधीर तेजस्वी पुरुषको युवती स्त्री शीघ्र वर लेती है व उसके निकट आजाती उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्री उस महान तेजस्वी पुरुषको शीघ्रही प्राप्त होजाती है जो समताभावके अभ्यास करनेवाले हैं। जिन्होने ऐसा वैराग्य अपने भीतर बढा लिया है कि यदि कोई सज्जन मिले तो उनसे राग नही करते दुर्जन कष्ट देवे तो उनसे द्वेष नही करते। यदि कभी मानवोंकी सभामे जानेका काम पड़ गया तो उससे प्रसन्न नही होते और यदि जंगलमे अकेले रहना हुआ तो कुछ खेद नही मानते हैं। जिनके आगे कोई रत्न सुवर्णोके ढेर करदे तो उससे लोभ नही करते और यदि कंकड़ पत्थर रखदे तो उससे द्वेष नही करते। यदि साताकारी पदार्थो का सम्बंध मिले तो हम सुखी हुए ऐसी कल्पना नही करते और यदि असाताकारी सम्बध प्राप्त होतोहम दु खीहुए ऐसी मान्यता नही करते। यदि सामने कुत्ता आकर बैठ जावे तो उससे घृणा नही करते और यदि कोई चक्रवर्ती राजा आजावे तो उससे मोह नही करते। उनको यदि सुहावने शिष्यवर्गादिका-सम्बंध हो तो राग नही करते और यदि असुहावने चेतन अचेतन पदार्थोका

सम्वध हो तो द्वेप नही करते । ऐसे साधु महात्मा जो जगनको एकमात्र कर्मोका नाटक समझते है, जिनकी दृष्टि निश्चयनय रूप रहती है,जो जगतके नानाप्रकार जीवके भेपोमे व अवस्था-विशेषोमे भी शुद्ध द्रव्यको उसके अपने असली स्वरूपमे देखते हैं, उनके सामने कोई छोटा या वडा जीव है ही नही । सव ही जीव शुद्ध सिद्ध समान दिख रहे हैं, वहा राग और द्वेष किसके साथ हो । जितने अजीव पदार्थ हैं वे अलग दिखते हं उनसे कोई राग द्वेषका सम्वंध नही । इस तरह शुद्ध निश्चयनयके आलम्बनसे जो साधु व ज्ञानी महात्मा निरतर विचारते रहते हैं उनका ससाररूपी स्त्रीसे राग घटता जाता है और मुक्तिरूपी परम मनोहर अनुपम स्त्रीसे राग वढता जाता है । वह मुक्तिरूपी स्त्री जव जान लेती है कि मेरा उपासक वडा धीरवीर है, उपसर्गोंके पडनेपर भी आत्मध्यानसे व मेरी आसक्तिसे हटता नही है तव ही वह स्वय आकर इसको अपना लेती है और यह पुरुषार्थी साहसी वीर सदाके लिये मुक्ति धाममे जाकर आनंदामृतका भोग किया करता है ।

श्री पद्मनद मुनि सद्‌वोध चद्रोदयमे कहते हैं—

कर्मभिन्नमनिशंस्वतोखिलम् पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदु.खकल्पना ।२०।

भावार्थ—जो निश्चयनयके जाननेवाले योगी हैं वे निर्मल ज्ञानदृष्टिसे अपने आत्मासे सर्व कर्मोको भिन्न देखते है तव उनके भीतर कर्मोके निमित्तसे जो सुख दु ख होता भी है उसमे यह भाव नही करते कि मैं सुखी हुआ या मैं दु खी हुआ । वे निरंतर समताभावका अभ्यास करते हैं—

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

रखते समभाव सज्जनो दुर्जनोमे ।
कचन ककडमें, राजग्रह वा वनोंमे ॥
सुख दुख पशु नरमे, संगमें वा विरहमे ।
युवति सम स्वसिद्धी, होत वश वीरनरमें ॥३५॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि वीतरागी साधु ही मोक्षके अधिकारी होते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अभ्यस्ताक्षकपायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रिया: ।
वाह्याभ्यतरसगमाशविमुखा. कृत्वात्मवश्य मन. ॥
ये श्रेष्ठ भवभोगदेहविषय वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालय विकलिला बुद्ध्वा समाधि बुधा ।३६

अन्वयार्थ—(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया.) इंद्रिय विषय और कषाय वैरियोंके जीतनेका अभ्यास करनेवाले है, (विध्वस्तलोकक्रिया) जिन्होंने लौकिक क्रियाकांड आरंभादिक सब त्याग दिया है (वाह्याभ्यन्तरसगमाशविमुखा) जो बाहरी और भीतरी परिग्रहके अ श मात्रसे भी वैरागी हैं और जो (मन आत्मवश्य कृत्वा) मनको अपने आधीन करके (भवभोगदेहविषयं) ससार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठ) उत्तम (वैराग्यं) वैराग्यको (अध्यासते) प्राप्त हुए हैं (ते बुधा) वे ज्ञानी साधु (समाधि) समाधि या आत्मीक तन्मयताको (बुद्ध्वा) अनुभव करके (विक-

लिला)सर्व कर्म रहित होकर(शिवालय)मोक्षधामको (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने बता दिया है कि मोक्षका उपाय अभेदरत्नत्रय समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जबतक शुक्लध्यानकी अग्नि नही जलती है तबतक न मोहका नाश होता है और न घातिया कर्मोका नाश होता है और न यह अघातिया कर्मोसे छूटकर सिद्धपद पासकता है। उस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्माको होसकती है जो शरीरके खड खड किये जानेपर भी ममता न लावे व वेदनासे त्रसित न हो। जिसकीममता बिलकुल शरीरसे हट गई हो जो सर्दी गर्मी डास मच्छरकी बाधाए सह सके। इसलिये साधुको वह सब कुछ वस्त्र त्याग देना पडता है जो उसने स्वाभाविक शरीरकी अवस्थाको ढकनेके लिये धारण कर रक्खे थे। यहांपर आचार्यने मुक्तिके योग्य जो पात्र होसकते हैं उन साधुओका वर्णन किया है। पहली जरूरी बात तो यह बताई है कि उन्होने इद्रियोकी इच्छाओको जीतनेका व क्रोधादि कषायोके दमनका भलेप्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योकि ये इद्रियें ही प्राणीको कुमार्गमे डाल देती हैं व कर्मोका बध कषायों से ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टीने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावका निश्चय कर लिया है वही आत्मीक सुखके मुकाबलेमे इंद्रिय सुखको तुच्छ जानता है, इसलिये वही इद्रियोका जीतने वाला होसकता है जिसने अपने आत्माका स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कषायोके जीतनेका पुरुषार्थ करेगा। दूसरी बात साधुमें यह जरूरी है कि उसने सब लोकव्यवहार छोड़ दिये हो, अनेक प्रकार व्यापारके आरम्भ करके पैसा कमाना मकान मठ बनवाना, खेती कराना, शरीर रक्षार्थ सामान जोड़ना,-

रसोई वनाना—वनवाना, व्याह शादीके व जीवनमरणके विकल्पो मे पडना ग्रहस्थोंके रोग, शोक आदि कष्ट मिटानेको यत्र मंत्रादि करना आदि कार्योंको आत्मोन्नतिमे विघ्नकारक व मनको आकुलित रखनेके कारण छोड दिये हो । तथा आरभके कारणभूत जो दश प्रकारके वाहरी परिग्रह है उनका भी जिसने त्याग किया हो । अर्थात् जिसके स्वामित्वमे न खेत हो, न मकान हो, न चांदी हो न सोना हो, न गोवश हो न अन्नादि हो, न दासी हो न दास हो, न कपड़े हो न वर्तन हो । तथा जिसने मोह जनित सर्व परिणतियोंसे भी ममता छोड दी हो अर्थात् १४ प्रकारकी अतरग परिग्रह भी न रखता हो । अर्थात् जिसने मिथ्यात्त्व,क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पु वेद, नपु सकवेद इन १४ वातोंसे ममता हटा ली हो । तथा जिसने अपना मन अपने आधीन किया हो, जिसका मन चंचल न हो ऐसा वशमे हो कि जव साधु चाहे तव उसे ध्यान व स्वाध्यायमे लगाया जासके तथा मनमें यह वैराग्य हो कि ससार असार है मोक्ष ही सार है । इंद्रियोंके भोग क्षणभगुर व अतृप्तिकारक है व आत्मा सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवत व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है । ऐसे ही साधु जव स्वात्मानुभवका अभ्यास करते २ शुक्लध्यानपर पहूँचते हैं तव कर्मोका संहार कर मुक्त होजाते हैं । श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्ममे कहते हैं—

आचारो दशधर्मसंयमतपो मूलोत्तराख्या गुणा ।
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थिति. ॥
वैराग्यं समयोपबृहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं ।
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानदाय धर्मो यते. ॥३८॥

भावार्थ—अविनाशी मोक्षपदकी प्राप्तिके लिये यतिका धर्म यह है कि वह चारित्रवाले, दशलाक्षणी धर्मको अभ्यासे, सयमी रहे, तपस्वी हो २८ मूलगुण व उत्तर गुणपाले, मिथ्यात्व, मोह व मदको त्यागे, समभाव रक्खे इद्रिय दमन करे, ध्यान करे, प्रमादी न हो' वैराग्य धारण करे, सिद्धात शास्त्रका ज्ञान व दाता रहे, निर्मल रत्नत्रय पाले, अन्तमे समाधि भावसे मरण करे। वास्तवमें सच्चे ध्यानी साधु ही मोक्षके पात्र होते हैं—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिसने अक्षकषाय शत्रु जीते, व्यवहार लौकिक तजा ।
बाह्याभ्यंतरसंग सर्व छोड़ा, मनको स्ववशमें भजा ॥
भवतन भोग विराग श्रेष्ठ घरके निजध्यान उत्तम किया ।
ते सज्जन सब कर्ममैल हरके शिवधाम वासा लिया ॥३६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीर और आत्माका भेद ज्ञान ही लाभकारी हैं—

सघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा ।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठैः कुतः संस्तर॥
कर्तात्मैव विवुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो ।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनो. सर्वदा ।३७।

अन्वयार्थ—(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्म शुद्धिका (साधनं)उपाय(न सघ.) न तो मुनि आर्जिका श्रावक श्राविकाका सघ है (न गुरव.) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोकोंसे बडी पूजा पाना है (नो योग्यै तृणकाष्ठ शैलधरणीपृष्ठैः

कृत. संस्तर:)न योग्य तृण काठ पापाण व भूमितलका बनाया हुआ संथरा है किन्तु(तस्य)उस आत्मध्यानका (कर्ता)करनेवाला (अयम्)यह(अमल:)निर्मल व (आत्मतत्वस्थिर.) आत्मतत्वमे स्थिर (आत्मा एव) आत्मा ही है। जो (जलदुग्धयो· इव) जल और दूधके समान(देहात्मनो भिदा)शरीर और आत्माके भेदको (सर्वदा)सदा(जानान:)जाननेवाला है(विवुध्यत)ऐसा समझो।

भावार्थ—यहा आचार्य वतलाते हैं कि भेद विज्ञानसे ही आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। जो आत्मा ऐसा भलेप्रकार समझ गया है कि जैसे दूध और पानीका सम्बंध है ऐसेही आत्मा और कार्मण तैजस व औदारिकादि शरीरोका सम्बंध है, जैसे दूध से पानी अलग है वैसे आत्मासे पुद्गलमयी शरीरादि अलग हैं। जो परको पर जानकर परसे ममत्व छोड देता है और निर्मल आत्माके शुद्ध चैतन्यमई सिद्ध भगवानके समान जानकर उसी आत्मीक तत्त्वमे अपने उपयोगको स्थिर कर देता है वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्माकी सिद्धि कर सकता है। जिस किसीके ऐसा आत्मध्यान तो हो नही और वह मुनियोके संघमें घूमा करे या आचार्योकी पाद पूजा व भक्ति किया करे व ससारी जीवोमे अपनी विद्याका चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठाको पायाकरे व कभी तिनकेका कभी काष्ठका कभी पाषाणका व कभी भूमितलका ही आसन विछाकर निश्चल बैठा करें तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यानके साधक नही हैं। इसलिये जो स्वहित करना चाहते हैं उनको उचित है कि इन सब कारणोको मात्र वाहरी निमित्त कारण जाने, इनके सहारेसे जो सामायिकका अभ्यास करते हुए आत्मध्यानमे लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भावको

पाते हैं व उनका ही साधन मोक्षका साधन है। विना शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन पाए परसे विराग नही होता है परसे विराग विना स्वात्मारामसे विश्राम नही होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तीक है तथापि उसको निर्मल जलके समान अपने शरीररूपी घटमे देखना चाहिये और जैसे गगानदी मे गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्माके जल सदृश निर्मल स्वभावमे अपने मनको डुबाना चाहिये। ॐ या सोऽहं मत्रका आश्रय लेकर बारबार मनको आत्मारूपी नदीमे डुबानेसे मनका चचलपना मिटता है और वीतरागताका भाव बढ़ता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसीपर चढके भव्य जीव संसार पार होजाते हैं। अतएव ज्ञानीको आत्मध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये। श्री शुभचद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

विरज्यकामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२॥

भावार्थ—कामभोगोंसे वैराग्य प्राप्त करके व शरीरकी भी वाछाको छोडकर यदि तू ममता रहित होजायगा तब ही तू ध्यान करनेवाला होगा अन्य प्रकारसे नही। इसलिये संसारके क्लेशोको नाश करनेके लिये आत्मज्ञानरूपी अमृतके रसका पान कर तथा ध्यानरूपी जहाजपर चढकर ससार समुद्रसे पार होजा।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

नहिं होवे मुनिसंग साधन कभी नहिं लोक पूजा कभी।
नहिं गुरु भक्ति न सस्तरं तृणमयी नहिं काठधरणी कभी॥

जिन जाना निज आत्मतत्वनिर्मल निजमे भये तत्पर ।
जैसे दूध अलग अलग जल सदा तिम देह आतमपरं ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सकते है—

विगलितविपय. स्व प्रस्थित वुध्यते य ।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा ॥
विषमभवपयोधि लीलया लॅघयित्त्वा ।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम् ॥३८॥

अन्वयार्थ–(य.)जो (विगलितविषय) इद्रियोके विषयोकी इच्छाओंका दमन करनेवाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीरमे (पथिक इव) यात्रीके समान (प्रस्थितं) प्रस्थान करते हुए (स्वं आत्मान)अपने आत्माको (नित्यम्) अविनाशी(वुध्यते) समभता है(असौ) वही (विषमभवपयोधि) इस भयानक संसाररूपी समुद्रको (पशुपद इव गायके खुरकेसमान (लीलया) लीला मात्रमे (लंघयित्वा)पार करके(सद्यः)शीघ्र ही(मोक्षलक्ष्मीम्)मोक्षरूपी लक्ष्मीको(याति)प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यहॉपर भी आचार्यने आत्मज्ञानीको ही मोक्षका अधिकारी बताया है। पहले तो पदार्थोंमे किंचित् भी राग नही रखता है, वही आत्मा आत्मध्यानके प्रतापसे बढा चला जाता है उसके लिये यह संसार समुद्र जो महा भयानक व विशाल है वह गायके खुरके समान होजाता है वह उसको बहुत शीघ्र पार कर लेता है और मुक्ति द्वीपमे जाकर मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमे कहते है—

तत्परः परमयोगसपदाम् पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गत ।
नापरेण चलित पथेप्सितः स्थानलाभविभवो विभाव्यते ।। १० ।।

भावार्थ—जो आत्मध्यान मे लीन है वही उत्तम योग की सपदा का पात्र होता है। जो आत्मध्यान से बाहर है वह योगी नही लेसकता है। जो कोई आत्मध्यानके सिवाय अन्य मार्ग से चलता है वह अपने इच्छित मोक्ष स्थान के लाभ को नही प्राप्त कर सकता है। अतएव आत्मध्यान ही को उत्तम कार्य मानना व इसी का अभ्यास करना हितकर है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो विषय विकारं त्याग निज आत्म जाने ।
पथिक सम विहारी देहमें नित्य माने ।।
विषम भव समुद्रं तुर्तं ही पार करता ।
पगुपद वत् क्षणमें मुक्तितिय आप वरता ।। ३८ ।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ससारिक सुखसे विमुख होता है वही आत्मसुख को पाता है :—

बाह्यं सौख्यं विपयजनितं मुंचते यो दुरन्तं ।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम् ।।
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते ।
तस्यच्छन्नो भवति नियत कर्णमध्येऽपि घोष. ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (दुरन्त) दु.खदाई (बाह्यं) बाहरी (विषयजनितं) इंद्रिय जनित (सौख्य) सुखको (मुंचते) त्याग देता है (असौ) वही (स्वस्थं) अपने आत्मामे स्थित (स्थेयं) अविनाशी व (निरुपमम्) उपमारहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुखको (आप्नोति) पालेता है (यः) जो कोई (अन्यः जन्यं श्रुति-

विरतये) दूसरोसे कहे हुए शब्दोको सुननेसे विरक्त होनेके लिये (कर्णयुग्मं) अपने दोना कान (पिवत्तो) ढक लेता है। (तस्य) उसके (कर्णमध्येऽपि, कानोके मध्य हा (छन्न.) गुप्त (घोष) शब्दो का उच्चारण (नियत.) सदा (भवति) होता रहता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते हैं कि विषयसुखका व आत्म-सुखका विरोध है। जिसको इन्द्रयोके विषयोके भोगोकी लालसा है उसका लक्ष्य वही रहेगा, उसको कभी भी आत्म-सुखका लाभ नही होसकता है तथा जिसको आत्मसुखका स्वाद आजाता है वही विषयोके स्वादको विषके समान जानता है। जिसकी वृत्ति विषयसुखमे विरक्त होजाती है वही आत्मीक सुखको पालेता है। विषयोका सुख सुखसा दीखता है यह न अंतमे दु खोका कारण है तथा बाहरी पदार्थोके आधीन है। जबकि आत्मसुख स्वाधीन है और उपमा रहित है जिसकी मिसाल नही दी जासकती है। इसपर आचार्य दृष्टाँत देते है कि जो जगतके लोगोके शब्दोको सुनता रहेगा वह अतरगके छिपे हुए घोष को नहीं सुन सकता है परन्तु जो अपने दोनो कानोको ढक लेवे ताकि बाहरी शब्द न सुनाई पडे उसको अपने कानके भीतर छिपा हुआ शब्द सदा ही सुन पडता है। कहनेका प्रयोजन यह है जो बाहर से विरक्त होता है वही भीतरकी संपदाको पाता है इसलिए हमे ससारिक सुखसे विराग भजकर निजात्मीक सुखमे रुचि बढाकर उसीके लिये आत्मामे ध्यान लगाना चाहिए और सामायकके द्वारा समताभावको बढ़ाना चाहिए। जिस किसीने अमृत फलका स्वाद नही पाया है उसीको तुच्छ मीठे फल स्वादिष्ट मालूम

पडते हैं, अमृत फल खानेवालेको वे फल स्वादिष्ट नही भासते हैं। आत्मीकसुखका स्वाद ही परम विलक्षण है। इंद्रिय सुखका लाभ प्राणीको महान अज्ञानी वना देता है। अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसदोह मे कहते हैं—

लोकार्चितोऽपि कुलजोपि वहुश्रुतोपि,
धर्मस्थितोपि विरतोपि शमान्वितोपि।
अक्षार्थपन्नगविपाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निद्यम् ॥१००॥

भावार्थ—कोई मानव लोगोसे पूज्यनीक हो, अत्यन्त कुलीन हो, वहुत शास्त्रका पारगामी हो, धर्ममें चलने वाला हो, विरक्त हो व शॉतभाव सहितभी हो। यदि उसके इंद्रिय विषयरूपी सर्प का विष चढ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा बावला होजाता है कि वह कौनसा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नहीं कर डालता है। वास्तवमें इंद्रियसुखमे आसक्ति मानवको धर्मभावसे गिराने वाली है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

विषय सुख विकार दुखमय छोड़ता जो।
निरुपम थिर पावन आत्मसुख वेदता सो॥
जो दोनो कर्ण मूंदता पर न सुनता।
से निज कर्णोमे, घोष प्रच्छन्न सुनता॥ ३९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर सपत्तिको अपना मानना अज्ञान है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

संयोगेन विचित्रदु:खकरणे दक्षेण संपादिता-
मात्मीया सकलत्रपुत्रसुहृदं यो मन्यते संपदम् ॥
नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां मन्ये ऋणोपार्जिता ।
लक्ष्मीमेष निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजां तुष्यति ।४०।

अन्वयार्थ—(य.) जो कोई (विचित्रदु खकरणे दक्षेण) नाना प्रकारके दु ख उत्पन्न करनेमे प्रवीण ऐसे (संयोगेन) शरीर व कर्मके सयोगसे (सपदादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्र-सुहृदं)स्त्री पुत्र मित्रादि सहित(सपदम)सम्पत्तिको(आत्मीयाँ) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है। (मन्ये) मैं समझता हूँ कि (एष) यह (निराकृतामितगति) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्याज्ञानी (नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरॉ) प्राणी तरह तरहकी आपत्तियोको बढ़ानेवाली (ऋणोपार्जितॉ) कर्जसे प्राप्त होने वाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मी को (निजॉ) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी होरहा है।

भावार्थ—यहाँ आचर्यने बताया है वह मानव महा मूर्ख है जो कर्मसयोगसे प्राप्त पदार्थो को अपना मान लेता है। इस जीवके साथ कर्मोका सयोग नाना प्रकार दु खोको उत्पन्न कराने वाला है, कर्मोके उदय से ही रोग, शोक, वियोग होता है। कर्मोके उदयसे ही क्रोध, मान, माया, लोभका विकार होता है। कर्मोके निमित्तसे शरीर की प्राप्ति होती है, शरीरमे इंद्रियाँ होती हैं। इंद्रियोसे इच्छापूर्वक विषय ग्रहण करता है। विषयो को पाकर राग करता है उनके चले जानेपर शोक करता हैं। पुण्यके उदयसे जब इसको मनोज्ञ स्त्री, सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते हैं तव उनमे राग करता है, जब यह नही रहते

व उनपर कोई आपत्ति आती है तो इसे बडा खेद होता है। सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध व रक्षण आदिकी विधि करते हुए महान् संकटोको सहना पड़ता है। जो कोई मूर्ख कर्मोंके उदयसे प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदाको अपनी मानता है वह मानों कर्ज लाकर परको लक्ष्मीको अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर ब्याज सहित धन चुकाता नही है वह अन्तमे राजदण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्जके धनमे कभी ममता नही करते हैं। वह उसको परका ही मानते हैं व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं इसी तरह कर्मोंके उदयसे प्राप्त पदार्थोंको ज्ञानी जीव अपना कभी नही मानते हैं—वे कर्मोंके छूटनेपर छूट जानेवाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मीक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई सम्पत्तिके सिवाय और किसीको अपनी नही मानता है। तत्वज्ञानीको यही भाव अपने मनमे रखकर आत्म तत्वका मनन करना चाहिए। ज्ञानी ऐसा विचारते है जैसा स्वामी अमितगतिजीने सुभाषितरत्नसंदोह मे कहा हैं—

किमिहपरमसौख्यं निःस्पृहत्त्वं यदेत-
त्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्त्वं यदेतत् ।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये,
विधदति जिनधर्मं ते नरा. पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऐसा मनमें निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही परम सुख है तथा इच्छा सहितपना ही महान दुःख हैं परिग्रहोको छोड़कर जिनधर्मको धार करके सेवते है वह ही पुण्यात्मा हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

नाना दुखकरकर्मसग वशते, पाई सकलसम्पदा ।
वनितापुत्रसुमित्र राजलक्ष्मी, वृष नाश करती सदा ॥

इनको अपनी मानता नर कुधी मोही महा पातकी ।
सो ऋणसे धन पाय मग्न रहता नहि लाज है बातकी ॥४०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञानी जीव किसी पदार्थसे रागद्वेष नही करते हैं—

यत्पश्यामि कलेवर बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम् ।
तन्मे किंचिदचेतनं नकुरुते मित्रस्य वा विद्विष ॥
आत्मा यः सुखदु.खकर्मजनको नासौ मया दृश्यते ।
कस्याहं बत सर्वसगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ॥४१॥

अन्वयार्थ—(मित्रस्य) मित्रके (वा विद्विषः) वा शत्रुके (यत)जिसके (कलेवर)शरीरको (बहुविधव्यपारजल्पोद्यतम्) नानाप्रकार आरभ करनेमे व बात करनेमे लगा हुआ(पश्यामि) देखता हू (तत्) वह शरीर (अचेतन) चेतनता रहित जड है (मे) मेरा (किंचित्) कुछ (न कुरुते) नही कर सकता है (य आत्मा) उनका जो आत्मा(सुखदु खजनक.) सुख तथा दु खका स्वरूप कर्मोको उत्पन्न करनेवाला है(असौ)वह(मया) मेरेसे (न दृश्यते) देखा नही जाता है तथा (अह)मैं (सर्व-सगविकल) सर्व कर्मादि पर वस्तुके सगसे रहित शुद्ध हूं तब (कस्य) किसपर(तुष्यामि)प्रसन्न होऊँ (रुष्यामि च)तथा रोष करू (बत) यह विचारनेकी बात है ।

भावर्थ—यहांपर आचार्यने रागद्वेष मिटानेकी एक रीति समझाई है । यह ससारी प्राणी उन मित्रोसे प्रेम करता है, जो अपने वचनोसे हमारे हितकी बातें करते हैं व अपने आचरणसे हमारी तरफ अपना हित दिखलाते है तथा उनको शत्रु समझ

द्वेप करता है जो हमारे अहितकी वाते करते हैं तथा अपने व्य-
हारसे हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणीके
मनसे रागद्वेप हटानेके लिये आचार्य कहते हैं कि-हे भाई! तू
किसपर राग व किसपर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिये।
यदि तू मित्रके शरीरसे राग व शत्रुके शरीरसे द्वेष करे तो यह
तेरी मूर्खता ही होगी क्योकि शरीर विचारा जड अचेतन है वह
न किसीका बिगाड करता है न सुधार करता है। शरीरके
सिवाय उनका आत्मा है उसको यदि तू सुख तथा दु खका देनेवाला
माने तो वह आत्मा बिलकुल नही दिखता। उसका भाव
यह होगया है कि इन्द्रियोके भोगोसे आत्माको सुख—शाति
नही होती है। किन्तु उलटा रागद्वेषकी मात्राएं बढ़कर मोक्ष-
मार्गमे विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने पीने देखने आदिसे
हट गई हो। तथा आत्मसुखका अनुभव होने लग गया हो और
यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्रि अपनी यात्रामे भिन्न २
स्थानोसे विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक
यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जबतक मोक्ष न
पहुंचे यह भिन्न २ शरीरमे वास करता हुआ यात्रा करता रहता
है तथा यह अविनाशी है। शरीरके बिगड़ते हुए आत्मा नही
बिगडता है। यह अनादिसे अनतकाल तक अपनी सत्ता रखने-
वाला है। इसतरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी ठहरनेके स्थानपर
नही रहता है किन्तु मुक्तिद्वीपमे पहुचना है यह लक्ष्य रहता है
तथा जिस किसी शरीरमे कुछ कालके लिये ठहरता है उसे मात्र
एक धर्मशाला जानता है उम शरीरमे व उसके सबधी चेतन व
अचेतन न जाने तबतक उसपर राग व द्वेप किस तरह किया
जासकता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करनेका नही है।
मैं सर्व संगसे रहित हूं। न मेरेमे कोई ज्ञानवरणादि द्रव्यकर्म है

न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भावकर्म हैं । मैं निश्चयसे सबसे निराला सिद्धके समान ज्ञाताद्दष्ठा अविनाशी पदार्थ हूं । इसलिये मुझे उचित है कि समताभावमें रमण कर आत्मीक सुखका अनुभव करूं । जगतमे न कोई मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है । इसी तरह श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमे कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रिय. ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रिय ॥२६॥

भावार्थ—मेरेको न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्मकी आखोसे मेरे आत्माको कोई देख नही सकता है इसलिये मेरे आत्माका न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मेरेको अर्थात् मेरे आत्माको देखनेवाला लोक है वह भीमेरा शत्रु व मित्र नही होसकता क्योकि वीतरागी आत्मा ही आत्माको देख सकता है । इसलिये न मेरा कोई मित्र है न शत्रु है ।

श्री शुभचंद्राचार्यने भी ज्ञानार्णवमे कहा है.—

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः ।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥३३॥

भावार्थ—जिस मानवने मेरे आत्माके स्वराजको देखा ही नही है वह न मेरा शत्रु है न मित्र है व जिसने प्रत्यक्ष मेरे आत्माको देख लिया है वह महान मनव भी न मेरा शत्रु होसकता है न मित्र ।

निश्चय नयके द्वारा देखते हुए शत्रु मित्रकी कल्पना ही मिट जाती है—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

या जगमें हितकारि मित्र मेरा, वा शत्रु जो दुःख करे ।
देखूं देह अचेतनं तिन्होकी, सो देह मम क्या करे ॥
सुखदुःखकारी आतमा यदि कहो, सो दृष्टि पड़ता नहीं ।
मैं निश्चय परमातमा असगी, रुप तोष करता नही ॥४१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नहीं सकता मैं किससे राग व द्वेष करूं ।

क्रोधावद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा ।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता ॥
संबधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्यते ।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः ॥४२॥

अन्वयार्थ—(क्रोधावद्धधिया) क्रोधसे युक्त बुद्धिवाले (शत्रुणा) शत्रुसे (यत्) जो (इदं) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेनविचेतनेन सार्धं) उस अचेतन शरीरके साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (सम्बन्धता) सम्बन्ध (नो अस्ति) नही है। (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचलः संबंधः) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (स.) वह (आत्मा) आत्मा (न विध्वस्यते) नही नाश किया जासकता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुषके द्वारा (क्वापि) किसीमे भी (विद्वेषरागोदयः) रागद्वेषका प्रकाश (न विधीयते) नही किया जाता है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने शत्रु भावको मिटानेकी और एक रीति बताई है। जो कोई किसीका शत्रु बनकर उनको नाश

करता है वह मानव उस क्रोधरूपी पिशाचके वश होकर बावला बन जाता है। वह उन्मत्त पुरुषके समान है जिसने गाढ नशा पीलिया हो। बावलेकी चेष्टाका बुरा मानना मूर्खता है। तिस पर भी उस क्रोधी मानवने यदि मेरे इस शरीरको नाश किया तो मेरा क्या बिगडा। शरीर तो स्वय जड है, नाशवत है मेरा और उसका क्या सम्बन्ध ? यह तो मात्र मेरे रहनेका घर है घरके जलनेसे व नष्ट होनेसे घर वाला नष्ट नही होसकता। मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूँ मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूपसे ऐसा निश्चल है कि वह कभी छूट नही सकता। इस मेरे आत्मा को नाश करनेकी किसीकी ताकत नही है। जब मेरे आत्माका कोई विगाड या सुधार करही नही सकता है तब मैं किस मानवमे राग करूँ व किस मानवसे द्वेष करूँ ? यदि मै राग द्वेष करता हूँ तो मै मूर्ख व बावला हूँ। इसलिये मुझे न किसीसे राग करना चाहिये न द्वेष। मुझे पूर्ण समताभावमे ही रमण करके सुखी रहना चाहिये। निश्चयनयसे यहा भी साधकको अपने आत्माको शुद्ध अविनाशी चेतन धातुमय अमूर्तिक अनुभव कर लेना चाहिये। मेरा कोई शत्रु है व कोई मेरा मित्र है इस कल्पनाको बिलकुल मिटा देना चाहिये।

परमार्थविशतिमे श्री पद्मनदि मुनि कहते है—

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा।
प्रेमागेपि न मेस्ति सप्रति सुखी तिष्ठाम्यह केवल. ॥
सयोगेन यदत्र काष्ठमभवत्ससारचक्रे चिर।
निर्विण्ण. खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥४५॥

भावार्थ—मेरा कोई सम्वन्ध न किसी आश्रय करनेवाले इस सेवकसे है न किसी मित्रसे है। मेरा प्रेम इस शरीरपर भी नही है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हूँ। इस ससारमे अनादिसे इस शरीरादिके सगसे वहुत कष्ट पाए इसलिये मैं अब इनसे उदास होगया हूँ, मुझे सदा एक अपना निराला रूप ही रुचता है। वास्तवमे ज्ञानीके ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

क्रोधाॅधी यदि शत्रुने तन यही मम नाशकर दुख दिया।
सो जड हूँ मैं चेतना गुणमई, सम्वन्ध मुझसे जु क्या॥
मेरा है सम्वन्ध नित्य निजसे सो नाश होवे नही।
इम लख वुधजन रागद्वेप कोई, किंचित् जु करता नही॥४२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरका मोह ही सकटोका मूल है—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि सकुर्वता।
गुर्वी दु खपरपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणी सपदम्।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्॥४३॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससारसे (एकत्रापि कलेवरे) इसी एक शरोरमे ही (स्थितिधिया) स्थिरतापनेकी वुद्धि करके (कर्माणि सकुर्वता) नानाप्रकार पाप कर्मोको करते हुए (आत्मना) आत्माने (गुर्वी) वडी भारी (दु खपरम्परानुपरता) दु खोकी सतानको वढानेवाली अवस्था (लभ्यते) प्राप्त कर ली है (तत्र) उसी ससारमे (विनष्टममतॉ) ममतारहितपनेको या वीतरागभावको (स्थापयता) स्थापित करनेवाले आत्मासे (का) कौनसी (विस्तारिणी) वडी भारी (सम्पदा) सम्पदा (नही प्राप्यते) न प्राप्त

कर ली जासकती है कि जिसको (शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र, चक्रवर्ती या नारायण नही प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति की जा सकती है।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने बतलाया है कि ममता ही दु खोको वढानेवाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करानेवाला है। इस ससारमे इस जीवने अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर पाये व छोढे व हरएक शरीरमें रहकर व उसीमे लिप्त होकर वहुतसे कर्मोका बधन किया। जिस कर्मबधके कारण ससारमे भ्रमण करता रहा। अव यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीरमे व शरीरके इद्रियोमे ममताकी जावेगी तो ऐसा कर्मोका बंध होगा जिससे इस जीवको नर्कनिगोद आदि गतियोमे जाकर दु खोकी परिपाटीको वढा देना होगा, फिर मानव जन्मका मिलना ही दुष्कर होजायगा और यदि यह मानव वुद्धिमान होकर इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीरपर ममत्व न करे और अपने आत्माके स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्षपाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्मसे मोक्षकी अनुपम सम्पदाको पासकता है और यदि शरीर मोक्षके पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगोके पानेका पात्र होता हुआ परम्परा मोक्षका अधिकारी हो सकता है। मोक्षकी सम्पदा अनुपम है। वह आत्मीक है, पराधीन नही है। वह आत्माका ही अनत ज्ञान, सुख, वीर्य आदि है। इस मुक्तिकी सम्पत्तिको इन्द्र. चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नही पासकते हैं। वास्तव मे आत्मज्ञानी ही व आत्मध्यानी ही ऐसे सुखके अधिकारी है। जो शरीरके दास है वे ही ससारके दास हैं, वे ही अनतकाल भ्रमण करनेवाले है। इसलिये ज्ञानी जीवको इस क्षणिक शरीर

में मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मामे ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपचाशत्में पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति पर चिन्मयं ज्योति. ॥३॥

भावार्थ—जब मनका मोह शरीरादिसे छूट जाता है और यह मन आनन्दसागरमे डूब जाता है तब मनमें जो कुछ प्रतिभाष होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवत रहो।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो कोई इस एक देहको ही, थिर मान अघको करे ।
सो सन्तान महान् दु ख लहिके चारो गतीमे फिरे ॥
पर जो ममता टाल आप माही, आपी रती धारता ।
अनुपम शिव संपत् अपारलहता इन्द्रादि नहि पावता ॥४३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिन बातोंसे शरीरका लाभ होता है उनसे आत्माका बुरा होता है इससे उनसे बचना ही हितकर है—

ये भाव: परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा ॥
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
र्निश्चित्येति विमुच्यतेऽनर्घधिया कायोपकारि त्रिधा ।४४।

अन्वयार्थ—(ये) जो (परिवर्धिता: भावा:) धारण किये हुए व बढ़ाए हुए रागादि भाव व स्त्री, पुत्र, मित्र राज्यधनसम्पदा

आदि पदार्थ (कायोपकारं) इस शरीरका भला (विदधते) करते हैं (पुन) परंतु (ते) वे भाव या पदार्थ (संसारपयोधिमज्जन-पराः) संसारसमुद्रमे डुबानेवाले हैं इसलिए (सदा जीवापकारं) हमेशा जीवका बुराकरते हैं। (पुन) तथा (जीवानुग्रहकारिण.) जो वीतराग भाव या तप, व्रत, संयम आदि जीवके उपकार करनेवाले हैं वे (कायापकार) शरीरका बुरा (विदधते) करते अर्थात् शरीरको संयमी व सकुचित रहनेवाला बनाते हैं (इति) ऐसा (निश्चित्य) निश्चय करके (अनवधिया) निर्मल बुद्धिवान मानवको (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनो प्रकारसे (कायोप-कारि) शरीरको लाभ देनेवाले और आत्माका बुरा करनेवाले पदार्थोको या भावोको (विमुच्यते) छोड देना उचित है।

भावार्थ – यहापर आचार्यने बताया है कि शरीरका दास-पना करोगे तो आत्माका बुरा होगा और जो आत्माका हित करोगे तो शरीरका दासपना छूटेगा। वास्तवमे जो मानव स्त्री पुत्र धनादि सम्पदाओमे मोही होजाते है अथवा अपने आत्माके भीतर कर्मोके उदयसे पैदा होनेवाले रागादि भावोमें तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन धनादि सामग्रीके एकत्र करनेमें, रक्षण करनेमें व विषयभोगोमे लगे रहते हैं। वे इन कामोसे शरीरका रातदिन चाकरीपन करते है, उसको बड़ आरामसे रखते है। वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपने आत्माके हितकी तरफ ध्यान नही देते, उनसे न जप होता न तप होता न व्रत पाले जाते न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते न वे पात्रोको दान देनेका कष्ट उठाते न वे सामायिक करते न सयम पालते न शुद्ध भोजन करते, वे हिंसादि पापोको स्वच्छन्द वृत्तिसे करते हुए व तीव्र विषयवासनामे लिप्त होते हुए ऐसे पापकर्मोको बांध लेते

कि जिनसे इस आत्माको दुर्गतिमे जाकर घोर सकट भुगतना पडता और उसको उद्धारका मार्ग मिलना कठिन होजाता है तथा जो बुद्धिमान इस मानव देहको धर्मसाधनमे लगाते जप,तप शील, सयम पालते ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्माका सच्चा हित करते उसे सच्चे सुखका भोग कराते, उसी मुक्तिके मार्ग पर चलते हैं । यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीरको कावूमे रहना पडता तव शरीर अवश्य पहलेकी अपेक्षा कुछ सूखता । इतना ही नही ये सव कार्य जो मोक्षमार्गके साधक हैं वे वास्तवमे शरीरके नाशके ही उपाय हैं । इन साधनोंसे कुछ कालके पीछे शरीरका सम्वन्ध विलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगी । ऐसी व्यवस्था हैं तव ज्ञानीको यहा करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना वुरा न कर डाले । उसे शरीरके मोहमे नही पडना चाहिए और शरीरका सम्वन्ध ही न मिले ऐसा ही उपाय करना चाहिये अर्थात् आत्मा के हितके लिये तप आदि आत्मध्यानको वडे भावसे करना चाहिये यही आचार्यका भाव है ।

पूज्यपादस्वामीने भी इष्टोपदेशमे कहा है :—

तज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

भावार्थ–जो वातें जीवको लाभकी हैं उनसे शरीरका वुरा होता है तथा जिनसे देहका भला होता है उनसे जीवका उपकार होता है ।

इसमे ज्ञानीको यही विचारना चाहिए कि कोईका घर नष्ट हो परन्तु घरमे रहनेवाला वच जाय तो वह काम करना अच्छा

है कि घर तो बच जाय व रहनेवालेका नाश होजाय यह काम करना अच्छा है? वास्तवमे घरसे घरवालेका मूल्य बहुत ज्यादा है। घर तो फिर भी बन सकता है। परंतु घरबाला मर गया तो फिर जीना कठिन है। इसलिए शरीरके मोहमें न पड़कर आत्महित ही करना श्रेष्ठ है।

एकत्वाशीतिमे श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

वहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद् भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥१॥

भावार्थ—बाहरी शरीर आदि पदार्थोंका सम्बन्ध तो सर्व जीवोंके सदा ही होता रहता है वह तो सुलभ है। परन्तु बाहरी पदार्थोंसे भिन्न आत्माका ज्ञान व आत्माका ध्यान कठिनतासे मिलते है इसलिए इनका अभ्यास हितकारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो धन आदि पदार्थ भाव रागी, या देहको हित करे।
सो संसार समुद्र माहि पटके निजको सदा दुख करे॥
हितकर्ता तप आदि भाव जियको सो देहको दुख करे।
निर्मलधी इम जान देह हितकर परिणाम वर्जन करे॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माकी आराधनासे ही आत्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है:—

शालिनी छन्द।

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥
सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमानः) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ठ, (अमलं) निर्मल (ज्ञानं) ज्ञानको (वितरति) देता है (पुन) जब कि (काय.)शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित है (घोरं अज्ञानं एव) यदि इसकी सेवा की जावे घोर अज्ञानको ही देता है (जगति) इस जगतमें (इदं) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थानमें (विदित) प्रसिद्ध है कि (विद्धमानं दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी)दानी (स्वकुसुमं) आकाशके फूलको (क्वापि) कही भी (कस्यापि) किसीको भी (नहि दत्ते) नही देसकता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्य कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्दकी प्राप्ति करना चाहे उनको उचित है कि अपने आत्माका ही सेवन करे। क्योकि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप व वीतराग आनन्दमई है। यदि आत्माका ध्यान किया जायगा तो आत्मा को अवश्य ही जो उसके पास गुण हैं वे स्वयं प्राप्त होजांयगे। यदि कोई शरीरकी सेवा करे, शरीरके मोहमे रहकर उसकी सेवाचाकरीमे लगा रहे, उसके कारण जो राग, द्वेष, मोह होता है उसीको अपना स्वरूप मानता रहे, रातदिन अहंकार ममकार मे लीन रहे तो उस अज्ञानीको आत्मीक गुणोको छोड़कर जड़ अचेतन रूप शरीर व कर्मबंध व कर्मोदय रूप रागद्वेष रस इनकी सेवा करते रहनेसे अज्ञानका ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। क्योकि जगत् मे यह नियम है कि जो किसीकी सेवा सच्चे भावसे करता है उसको वह वही वस्तु देसकता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मांगे जो उसके पास नही है तो,वह उसे कभी नही दे सकता है।

आकाशका फूल कभी होता नही, फूल तो किसी वृक्षकी शाखा मे होता है । यदि कोई बडा भारी दाता है और उससे कोई याचक यह कहे कि तू मुझे आकाशका फूल दे तो वह कभी उसे दे नही सकता क्योकि उसके पास आकाशका फूल है ही नही । तात्पर्य कहनेका यह है कि शरीर जड हैं इसकी पूजासे जड-मूर्ख ही रहोगे । कभी सम्यग्ज्ञानी व केवलज्ञानी नही होसकते किंतु जब निज आत्माका ध्यान करोगे तो अवश्य सम्यग्ज्ञान व सुख -शाँतिकी प्राप्ति होगी ।

इष्टोपदेशमे श्री पूज्यपादस्वामीने भी ऐसा ही कहा है--

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय ।
ददाति यस्तु यस्याति सुप्रसिद्धमिदं वच ॥२३॥

भावार्थ--अज्ञानकी सेवासे अज्ञान होगा और ज्ञानी आत्मा-की सेवासे ज्ञान होगा । यह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वही दूसरेको उसीमेसे कुछ दे सकता है ।

एकत्वाशीतिमे पद्मनंदि मुनि कहते है--

अजमेक परं शातं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि य स्थिर· ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्थ. स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथ स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

भावार्थ--जो कोई स्थिर होकर आत्माके द्वारा अजन्मा, एक -रूप, उत्कृष्ट, वीतराग, सर्व रागादि उपाधि रहित अपने आत्माको

जानकर अपने आत्मामे तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्षमार्गमें चलनेवाला है, वही आत्मानदरूपी अमृतका भोग करता है, वही अर्हंत, वही जगतका स्वामी व वही प्रभु व वही ईश्वर है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो निज आतम स्वच्छ ज्ञानमयको भजता परम प्रेमसे।
पाता निर्मलज्ञान और सुखको लहता शिवं नेमसे ॥
जो सेता निज तन अचेतन महा लहता न ज्ञानं कधी।
दाता देवे जो कि पास निज हो नभ फूल दे नहिं कधी ।४५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि लोग सुखकी तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं—

कांक्षन्तः सुखमात्मनोऽनवसितं हिसापरैः कर्मभि. ।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिपणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः ॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्टिनः।
सर्वागावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणः ॥४६॥

अन्वयार्थ—[अनवसितं]निरतर [आत्मनः सुखं] अपनेको सुखकी[कांक्षन्तः]इच्छा करनेवाले [अपास्तसंगधिपणाः]विवेक बुद्धिसे रहित [कामिन.] कामी पुरुष [धिक] यह वड़े दुःखकी बात है कि [हिसापरैः कर्मभि.] हिंसामई क्रियाओके द्वारा [दु.खोद्रेक]दुःखोके वेगको[कुर्वंति]वढ़ा लेते हैं। जैसे[खर्जू-कषाकांक्षिण.]खुजानेकी इच्छा करनेवाले[कुष्टिनः]कोढीलोग [विविधै] नाना प्रकार [कंडूयनैः] खुजानेकी वस्तुओसे [सर्वागावयवोपमर्दनपरैः] सारे अंगके भागोको मलनेसे [किं]किस[बाधां]कष्टको[न विवर्धयंति],नही वढ़ा लेते हैं ?

अर्थात् अवश्य बढा लेते है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि इद्रियोके भोगोंको भोग कर सुखकी इच्छा करना मूर्खता है। जैसे कोढीलोग जिन को खाज खुजानेकी इच्छा इसलिये होती है कि खाज मिट जावे, सारे अंगको खुजाते हैं इससे उनकी खाज मिटती नही उल्टी बढ आती है वैसे इद्रियोके भोगोसे जो तृप्ति चाहते हैं उनक कभी तृप्ति व संतोष नही होता है, उल्टीतृष्णाकी ज्वाला और बढ़ जाती है। इंद्रियोंके भोगोमें लिप्त होनेसे उस जन्ममे सुख नही मिलता, इतना ही नही उससे आगामी जीवनको भी नष्ट करता है क्योकि इन्द्रियभोग योग्य पदार्थो की इच्छा करके यह प्रचुर धन प्राप्त करना चाहता है या अनेक विषयोकी सामग्रीको इकट्ठा करना चाहता है जिससे बहुत अधिक हिंसामई आरंभ-करता है, असत्य बोलता है व अनेक अन्याय कर लेता है। इस कारण तीव्र पापोको बांध लेता है उस पापके उदयसे परलोकमे महान् दु.खकी योनियोमे पड़ जाता है व वहां भी पापके उदय से दु.खी होजाता है व आपत्ति सकटोमे पड़ जाता है। खाज खुजानेवालेकी खाज जैसे मिटनेके स्थानमे बढ़ जाती है तैसे इंद्रियभोगोको भोगकर तृप्ति चाहनेवालोकी तृष्णाकी आग और अधिक बढ जाती है। ऐसा समझकर जो सुख की इच्छा हो तो आत्मीक सुखकी खोज करनी चाहिये और उस सुखके लिये अपने आत्माका ध्यान ही उपाय है इसको ग्रहण करना चाहिये।

अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है कि सच्चा-सुख वीतरागी महात्माओको ही मिलता है—

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां।
न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणामे॥

इति मनसि नितान्त प्रीतिमाधाय धर्मं ।
भजत जहित चैतान् कामशत्रून्दुरन्तान् ॥१०॥

भावार्थ—जो सुख इस लोकमें उन महात्माओंको होता है जिनके कामभोगोकी इच्छा नहीं रही है वह सुख न देवताओंको और न चक्रवर्ती राजाओंको होसकता है। ऐसा जानकर मनमें गाढ़ प्रीतिको धारण कर धर्मकीसेवा कर और कठिनतासे छूटने वाले इन भोगोकी इच्छारूपी शत्रुओको त्याग दे।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।
जो चाहें नित सौख्यको परकुधी हिंसामई कृति करें ।
करते बुद्धि विना जु भोग रत हो वे सुख कभी ना भरें॥
जो कोढ़ी निज खाज टालन निमित अंगांग खुजलावता ।
साता पाता है नही वह कुधी बाधा अधिक पावता॥४६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो अपने आत्माको अपने आत्मामे स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नही करता है वह अपने आत्माकाशत्रु है—

व्यापारं परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम् ।
कुर्वाणो भृशमात्मनः सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा ॥
वैरी दु.सहजन्मगुप्ति भवने क्षिप्त्वा सदा पातय—
त्यालोच्येति स तत्रजन्मचकितैः कार्य. स्थिरः कोविदैः ॥

अन्वयार्थ—जो (सर्व अपर व्यापार) सर्व दूसरे व्यापारको (परिमुच्य) छोड़ करके (निर्मलं)पवित्र(रत्नत्रयं)रत्नत्रय धर्मको (भृशं कुर्वाणः) भलेप्रकार पालनेवाला व (आत्मप्रवृत्तः)अपने आत्माका मित्र है। (अन्यथा) जो ऐसा नही करता है वह (वैरी)

अपने आत्माका वैरी है। वह अपने आपको [सदा] सदा [दुःसह-जन्मगुप्तिभवने] न सहने योग्य संसारके भयानक जेलखानेमें [क्षिप्त्वा] पटक कर [पातयति] अधोगतिमे पहुंचाता रहता है [इति] ऐसा [आलोच्य] विचार करके [जन्मचकितैः] ससारके जन्मसे भय रखनेवाले [कोविदैः] बुद्धिमानोको [तत्र] इस संसारमें [सः स्थिरः कार्यः] वही स्थिर कार्य करना चाहिये अर्थात् अपने आत्मामें स्थिर होनेका उपाय करना चाहिये।

भावार्थ। यहां आचार्यने बताया है कि वह आत्मा अपने आत्माका घातक तथा शत्रु है, जो संसारके अनेक व्यापारोमे सो उलझता है परन्तु अपनेआत्माके ध्यानको कभी नही आचरण करता है क्योंकि वह जीव नाना प्रकार पापकर्मोंको बांधकर अपने आत्माको नरकनिगोद पशुगति आदिके महान कष्टोंमें डाल देता है। फिर उसको संसारमें सुखी होनेका मार्ग कठिनता से मिलता है और वह मोक्षमार्गसे दूर होता जाता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान और सब शरीर संबन्धी व्यापारोको त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रको भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्माके ध्यानमें लयता पाता है वह अपने आत्माका मित्र है। क्योकि ध्यानके बलसे वह कर्मोका नाश करता है, आत्मामें सुख शांति तथा बलको बढ़ाता है और मोक्ष मार्गको तय करता जाता है, ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारोंको छोडकर ऐसा उपाय करें जिससे अपने आत्मामें स्थिरता पावे और फिर मुक्त होजावें।

बुद्धिमानोको आत्मघाती होना बड़ा भारी पाप है। जो अपने आत्माकी रक्षा करता है वही सच्चा आत्माका मित्र है।

सुभाषितरत्नसदोहमे स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

यद्वच्चित्त करोषि स्मरशरनिहत कामिनीसग सौख्यं।
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्या.॥
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदु खप्रपचं।
संचिन्त्यैव विधिस्त्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम्।४०६।

भावार्थ—जिस प्रकार तू कामदेवके वाणसे वीधा हुआ स्त्री भोगके सुखमें अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेंद्र भगवानसे कहे हुए मोक्षके मार्गमे चित्तको जोड़ दे तो तू जन्म जरा मरणके दु.खोके प्रपचसे रहित क्या क्या सुखको न प्राप्त करे? ऐसा विचार कर अपनी बुद्धिको उत्तमपने स्थिर करके उसी धर्ममें स्थिरता रखनी चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शादूलविक्रीडित छन्द।

जो तजके व्यापार अन्य जगके रत्नत्रयं निर्मल।
सेवें धावें आत्मको रुचि धरैं सो मित्र आतमपरं॥
जो राचे संसार दु.ख पावें हैं आत्म वैरी सदा।
बुधजन भवभयधार कार्य निजमे थिरता धरे सर्वदा॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मूढ़ पुरुष धनादि मे मग्न होकर मरणादि सकटोका विचार नही करता है।

मूढ़ः संपदधिष्ठितो न विपदं संपत्तिविध्वंसिनी।
दुर्वारां जनमर्दनीमुपयतीमात्मात्मनः पश्यति॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगव्याधादिभिः सकुलं।
कक्षं वृक्षगतो हुताशनशिखां प्रप्लोषयन्तीमिव॥४८॥

अन्वयार्थ—(मूढ.)मूर्ख (आत्मा)जीव(संपदधिष्ठितः)जो संपत्तिको रखनेवाला है सो(आत्मनः)अपने ऊपर (जनमर्दनी)

मानवोको नाश करनेवाली (सपत्तिविध्वंसिनी) तथा लक्ष्मी आदि का वियोग करनेवाली (दुर्वारां) कठिनतासे निवारने योग्य (विपद) विपदाको (उपयती) आते हुए (न पश्यति) नही देखता है जैसा (वृक्षगतः) वृक्षके ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभि.) वृक्ष, वाघ, तरस, सर्प मृग व शिकारी आदिसे (संकुलं) भरे हुए (कक्षं) वनको (प्रप्लोषयन्ती) जलानेवाली (हुताशनशिखां) अग्निकी शिखाके (इव) समान नही देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव आग जलती तो देखता है परंतु उठके भागता नही है ऐसा यह धनोन्मत्त पुरुष है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने बताया है कि यह संसाररूपी बन महा भयानक है जिसमे मरणकी आग जल रही है। जो इस वनमे रहते हैं वे मरते रहते है। जब प्राणीको मरण आजाता है उस समय सर्व सपत्ति धन दौलत स्त्री पुत्र मकान राज्य आदि छोड़ जाना पड़ना है। इस मरणकी आपत्तिको कोई टाल नही सकता है। अज्ञानी लोग यह देखा करते हैं कि आज यह मरा कल वह मरा था, आज यह सब छोड़के चल दिया कल वह छोड़के गया था। संसारमें मरण किसीको छोड़ता नही, न बालकको न वृद्धको न बुद्धिशालीको न मूर्खको न राजाको न रंकको न इंद्रको न धर्णेन्द्रको न चक्रवर्तीको न तीर्थंकरको, तो भी लोग अपना ध्यान नही करते। जो मूर्ख धनके मदमे उन्मत है, सम्पदामें लिप्त है वह ऐसा अन्धा होजाता है कि विषयभोगोको भोगता ही रहता है और मरण पाने वाला है इस बातको अपने लिए नही विचारता है, वह मूर्ख अज्ञानसे मरकर संसारमे कष्ट पाता है। यहां पर आचार्यने उस मूर्ख मानव या पक्षीका दृष्टांत दिया है जो किसी भयानक वनके भीतर एक वृक्षपर बैठा हुआ हो

और उस वनमें आग लग रही हो तथा आगसे जल जावें इस भयसे शेर, हिरण, सर्प आदि पशु भागे जारहे हैं, अग्नि बढते बढ़ते उस वृक्षपर भी आनेवाली है जिसपर वह बैठा हैं तथापि वह ऐसा वेखबर है कि आगको बढ़ती हुई देखकर आप उससे बचनेका प्रयत्न नही करता है, भागता नही है। यही दशा अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी जीवकी है, तात्पर्य कहनेका यह है कि ससारमे परपदार्थके सम्बन्धको क्षणभंगुर जानकर व शरीरको कालके मुखमे बैठा हुआ मानकर हमको सदाही अपने आत्मोद्धारके प्रयत्नोमे दत्तचित्त रहना चाहिये। श्रीशुभचंद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमे कहा है—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधी. ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थ. पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥२३॥

भावार्थ—शरीर तो गलता जाता है परंतु आशा नही गलती है, आयु तो कम होती जाती है परतु पापकी बुद्धि नही जाती है, मोह तो बढ़ता जाता हैं परंतु आत्माका हित नही होता है। शरीरधारी प्राणियोंका चरित्र देखो कैसा आश्चर्यकारी है। यह मोहका महात्म्य है जिससे अपने नाशको सामने देखकर भी बावला होरहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मूरख संपत् लीन होय रहता भावी नही देखता।
धन नाशक मरणादि संकट बडे आते नही पेखता॥
वृक्षादी मृग बाघ नागपूरित वनमाहि अग्नी लगी।
बैठा वृक्ष जु देखता वन जले नहिं बुद्धि भागन लगी॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमात्मा पदकी प्राप्ति आत्मध्यानसे ही होती है—

आत्मात्मानमशेषबाह्यविकलं व्यालोकयन्नात्मना।
दुष्प्रापाँ परमात्मतामनुपमामापद्यते निश्चितम् ॥
आत्मानं घनरूढकीचकचय. किं घर्षयन्नात्मना।
वन्हित्वं प्रतिपद्यते न तरसा दुर्वारतेजोमयम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (आत्मानम्) अपने आत्माको (नशेषवाह्यबिकलं) सर्व वाहरी पदार्थोंसे भिन्न (आत्मना) अपने आत्माकेद्वारा (व्यालोकयन्) अनुभव करता हुआ (निश्चितम्) निश्चयसे (दुष्प्रापाँ) कठिनतासे प्राप्त होने योग्य (अनुपमाँ) तथा उपमा रहित (परमात्मता) परमात्मा पदको (आपद्यते) प्राप्त कर लेता है। (किं) क्या (घनरूढकीचकचय.) गाढ डटा हुआ वासके वृक्षका समूह (आत्मना) अपनेमे (आत्मान) आपको (घर्षयन्) घिसते २ (तरसा) शीघ्र ही (दुर्वारतेजोमयं) न बुझाने योग्य तेजस्वी (वह्नित्वं) अग्निपनेको (न प्रतिपद्यते) नही प्राप्त होजाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि आत्माको कर्मोंके मैलसे छुडानेका व इसके गुणोको प्रकाश कर इस परमात्मापदमे पहुँ. चानेका उपाय इस आत्माके पास ही है। यदि यह आत्मा सर्व पुद्‌गलादि द्रव्योसे सर्व कर्म बन्धनोसे, सर्वरागादि भावोसे भिन्न मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अविनाशी अमूर्तीक एक द्रव्य हूं ऐसा निश्चय करके अपने आपको अपने आप हीसे विचार करे, विचारते २ उसीमे लय हो आत्मानुभव करे तो अवश्य उसके कर्म बन्ध कट जावे और यह शुद्ध परमात्मा होजावे। इसपर दृष्टाँत देते हैं कि जैसे वनमे वाँसके वृक्षके समूह स्वयं रगड़ते २ अग्निमे बदल जाते हैं और ऐसी प्रचण्डताको धारण करते हैं कि फिर कोई भी उसको बुझा नही सकता है। इसलिए जो अपना

आत्म कल्याण चाहते है उन्हे अपने आत्माका ध्यान ही करना उचित है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमे कहते हैं—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि. वर्जितं किमपियत्तदेव न.।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चय. ॥२५॥

हमारा आत्मतत्व ज्ञानरूप है, सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित है। इसके सिवाय और कोई भी जरासा भी हमारा तत्व नही है। ऐसा जो ध्यानका निश्चय है वही मोक्षका मार्ग है। असलमें बात यही है कि मोक्ष अपना ही शुद्ध चैतन्यरूप है, जहाँ अपने आपको सर्व परभवोसे भिन्न अनुभव किया वहीं मोक्षका आनन्द आने लगता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो आतम निजआत्म आप ध्यावे परभावको टालता।
सो निश्चय दुर्लभ अनूपम परम शुद्धात्मता पावता॥
वनमे बॉस समूह आप आपी घर्षण करे आपको।
झटसे दुर्धर तेज धार अग्नी, होवे करे तापको॥४९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो शरीरके कार्यमे मोही है वह आत्मकार्य नही कर सकता।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे य. सर्वदा जायते।
मूढात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं॥
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते।
भीतात्मा न कथंचनापि तनुते कार्यं स्वकीयं जनः।५०।

अन्वयार्थ—(य.) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे) अपने शरीरके कार्यके करनेमें (व्यासक्त) लगा हुआ (जायते) रहता है (सः) वह (मूढात्मा) मूढ बुद्धि (कदाचनापि),

कभी भी (आत्मीयकार्योद्यमं) अपने आत्माके कार्यका उद्यम (न कुरुते) नही करता है । (भीतात्मा जनः) भयभीत कायर जन (दुर्वारेण नरेश्वरेण) जिसकी आज्ञा उलंघन करना कठिन है ऐसे राजा द्वारा (हठात्) बलात्कारसे (महति स्वार्थे) किसी महान अपने कार्यमे (योजिते) लगादिये जानेपर (स्वकीयंकार्यं) अपने स्वयंके कार्यको (कथंचनापि) कुछ भी (न) नही (तनुते) करता है ।

भावार्थ--यहां पर आचार्य बताते हैं कि जैसे कोई मूर्ख प्राणी किसी राजाके यहां नौकर हो वह राजा उसको किसी कामको पूरा करनेकी आज्ञा देवे । वह मूर्ख राजासे डरता हुआ दिनरात राजाके ही काममें लगा रहे, अपना निजका काम करने को समय ही न बचावे तब वह जगतमें मूर्ख ही कहलाएगा क्योंकि उसने अपने हितका काम करनेके लिए कुछ भी समय नहीं निकाला । इसी तरह जो मूर्ख शरीरमें अति आशक्ति रखता हुआ इंद्रियोका दास होजाता है। वह निरंतर शरीरको पोषा करता है, आराम दिया करता है, शरीरके लिए धन कमाया करता है, रातदिन शरीरको आराम देनेमें लग जाता है वह अपने आत्मीक हितको बिलकुल भूल जाता है । बुद्धिमान प्राणीको शरीरके मोहमें इतना न पडना चाहिए कि वह अपनी आत्मीक उन्नतिको भूल जावे । यदि वह गृहस्थ है वह धन कमावे, इन्द्रियोको न्यायपूर्वक भोगोमे लगाये परन्तु अपने आत्माके कल्याणके लिए आत्म--धर्मको अवश्य सेवन करता रहे । किसी भी दशामें अपने सच्चे धर्मको भूल जाना बड़ीभारी नादानी है । हरएक गृहस्थीको भी सामायिक व ध्यानका अभ्यास करना चाहिये व नित्य कर्ममें सावधान रहना चाहिए ।

धर्मका विस्मरण किसी भी समय न करना चाहिए। श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमें कहते हैं—

विहायव्यामोहं घनसदनतन्वादिविषये।
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं वतबुधाः॥
नयेनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना।
पुनः स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडंबरशतैः॥५२॥

भावार्थ—हे बुद्धिमानो! धन, गृह, शरीरादिके सम्बन्धमें ममताको छोडकर शीघ्र ही अपने आत्महितके कार्यको करो जिससे यह ससार न वढने पावे क्योकि फिरसे यह उत्तम मनुष्य जन्म आदिकी प्राप्ति हो वा न हो व्यर्थको वातोके बनानेसे क्या लाभ होगा।

प्रयोजन यह है कि कैसी भी अवस्थामे हो, धर्म साधनको सदा ध्यानमे रखना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो निज देह मयी कुभोग रत हो निज देहको पालता।
सो मूरख निज आत्म कार्य हितको कुछ भी नही साधता।
जो चाकर भयभीत ही नित रहे निज स्वामि कारज करे।
सो निज हितको भूल त्रास सहता निज जन्म पूरा करे॥५०॥

उत्थालिका—आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थोंमे लीनता मोक्षके साधनोमें वाधक है—

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया—
स्त्यज्यन्ते स्फुटमात्मनेह सकला एते सतामर्जितैः॥

जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकै. कि साध्यते कांक्षितं ।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते ॥५१॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसारमे (लक्ष्मीकीर्तिकलाकलाप-ललनासौभाग्यभाग्योदया:) धन, यश, कलाओका समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्यका उदय आदि (एते सकला·) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्माद्वारा (स्फुट त्यज्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड दिये जाते हैं (अर्जितै:) इन पदार्थोको उत्पन्न करनेसे (जन्मांभोधि.-निमज्जिकर्मजनकै) ससार समुद्रमे डुबानेवाले कर्मोका वध होता है इसलिये इन पदार्थोसे (सता) सज्जन पुरुषोका (कि) क्या (कांक्षित) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जा सकता है ? अर्थात नही साधन होता है ।(यत्कृत्वा परिमुच्यते) जिस वस्तु व कामको पैदा करके फिर छोडना पडे (तत्र) उस काममे या पदार्थमे (सुधिय) बुद्धिमान लोग (आदर आदर (न कुर्वते) नही करते है ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि लक्ष्मी, धन,पुत्र राज्यपाट, ससारिक यश, कला, चतुराई, स्त्री आदि सर्व पदार्थ मात्र इस देहके साथ हैं । आत्माका और इनका साथ कभी नही होसकता है। एक दिन आत्माको छोडना ही पडता है । फिर इनके पदा करनेमे, इकट्ठा करनेमे, प्रबध करनेमे, बहुत रागद्वेष मोह व बहुत पापका सचय करना पडता है उस पापसे इस आत्माको ससार--समुद्रमे डूबना पडता है, दुर्गतिके अनेक कष्टों को सहना पडता है तथा जो बुद्धिमानोके लिए इष्ट है अर्थात् मोक्ष व स्वाधीन आत्मीक सुख है वह और दूर होता चला जाता है। इन स्त्री पुत्र धनादिके भीतर मोह करनेसे आत्म-ध्यान व वैराग्य नही प्राप्त होता जो मोक्षका साधक है ।

प्रयोजन कहनेका यह है कि धनादि पदार्थोंका मोह करना वृथा है, इनको सचय करना भी वृथा है क्योकि एक तो ये कभी आत्माके साथ २ जाते नही स्वयं छूट जाते हैं, दूसरे इनके मोह मे आत्माका उद्धार नही होता है, आत्मा पवित्र नही होसकता है। इसलिए ज्ञानीको इसमे राग ही न करना चाहिये। इसको उत्पन्न करनेका भी मोह छोड़ देना चाहिये और आत्मकार्यमें लगा देना चाहिये। जिस वस्तुको बड़े परिश्रमसे कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और उसे फिर छोड़ना ही पड़े उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नही करते हैं। इसलिये हमको धनादिकी चाहको छोड़कर स्वहित ही कर्त्तव्य है। ऐसा ही भाव श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशके भीतर बताया है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त. संचिनोति यः।

स्वशरीरं सपंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥१६॥

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।

अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं क. सेवते सुधी ॥१७॥

भावार्थ—कोई निर्धन मनुष्य यह विचार करता है कि धन कमाकर दान करूंगा इसलिये धनको इकट्ठा करूं वह ऐसी ही मूर्ख है जो यह विचारे कि मैं अपने शरीरको कीचड़से लिप्तकर फिर स्नान कर लूंगा इसलिये कीचड़से लीपने लगे। जिस पाप को छुड़ाना ही पड़े उस पापको लगाना ही अच्छा नही है। यदि धन कमानेसे पाप सचय होता है तो जो मुक्ति चाहता है उसे इस जंजालमे नही पड़ना चाहिये। ये इन्द्रियोके भोग आरंभमे सताप करनेवाले हैं। अर्थात् इनके प्राप्त करनेके लिए

बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और जब ये मिल जाते हैं तब इनके भोगोसे तृप्ति कभी नही होती है फिर ये इनना मोह बढा देते हैं कि इनका छूटना कष्टप्रद होजाता है। इसलिये बुद्धिमान मानव इन भोगोकी इच्छा नही करता है। यदि गृहस्थमे पुण्योदयसे मिल जाते हैं तो उनमे आसक्त नही होता है। उनसे मोह करके अपने आत्मकार्यको नही भुलाता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

लक्ष्मीकीर्तिकलासमूह ललना सौभाग्य आदिक सभी।
छुट जाते इस जीवसे इक दिन अघ बंधकारी सभी॥
भवदधि डूबन हेतु मुक्तिपथ रिपु नहिं चाह धारे सुधी।
जो हो तजने योग्य लाभ उसका करते नही जो सुधी॥५१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नही करते हैं—

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो।
वैराग्यं न न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्वस्थितिः॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते।
शीतं जातु नुनुत्सवो न शिखिनं विध्यापयंते बुधाः॥५२॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कार्यके करनेसे (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नही पैदा होवे (न श्रेयसामागम.) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक है उनका लाभ होवे (न वैराग्यं) न संसार देह भोगोसे वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा) न कर्मरूपी पर्वतो का चूरा किया जासके (नापि आत्मतत्वस्थितिः) और न आत्मीक तत्वमे स्थिति हो अर्थात् आत्मध्यान हो (तत्कार्यं) उस कार्यको (स्वार्थोद्यताः) अपने आत्माके प्रयोजनमे उद्यमी (सुधियः) बुद्धि-

मान लोग (कदाचनापि) कभी भी नही (कुर्वंते) करते हैं जसे (शीतं मुमुत्सवः) शीतको दूर करनेकी इच्छा करनेवाले (बुधाः) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिनं) अग्निको(न विध्या पयंते) नही बुझाते हैं।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने बताया है कि बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो विचारके साथ इस संसारमें काम करते हैं। हरएक मानवको अपना लक्ष्यविन्दु बना लेना चाहिये और जो लक्ष्य हो उसीके साधनकी जो क्रियाएं हो उनको मन वचन कायसे करना चाहिये। जिसको शीत लग रही है और वह शीतसे बचना चाहता है तो वह अग्निको कभी नही बुझावेगा क्योकि अग्नि उसके हितमे साधक है। इसी तरह जो बुद्धिमान लोग अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे ही साधनोको करेंगे जिनसे तत्वोंका ज्ञान होकर यह विवेक होजावे कि क्या तो त्यागने योग्य हैं व क्या ग्रहण करने योग्य है तथा जिस चारित्रसे मोक्षका लाभ होगा उसी चारित्रको पालेंगे व जिस तरह मनमे संसार देह भोगोसे वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे जिस ध्यानसे कर्म पर्वतोका चूरा हो वैसा ही ध्यान करेंगे, जिस तरह आत्मा का अनुभव होजावे ऐसा तप साधेंगे। कभी भी ऐसे प्रपंचोमें न फंसेंगे कि जिनमे फंसनेसे तत्वज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मका नाश न हो व मोक्षकी प्राप्ति न हो।

प्रयोजन कहनेका यह है कि मानवोको स्त्री पुत्र मित्रादि धन परिग्रहमें ममताबुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिये, सर्व पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न जानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महितके लिए स्वाध्याय ध्यान सत्संगति आदि में लगे रहना चाहिये। गृहस्थमे रहे तो जलमें कमलके समान भिन्न

रहे । यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्यमें भीजा रहकर ध्यान की शक्ति बढ़ावे । गृहस्थमे कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदिके कार्य न करे जिनसे विषयोमें अन्धा होकर इस नरजन्मके अमूल्य समयको यो ही खो दे और पीछे पछताना पड़े । मानवजन्मका समय बड़ा ही अमूल्य है । जो आत्महितमें दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ वा साधु हैं—

श्रीपद्मनंदि मुनिने धर्मोपदेशामृतमें कहा है कि आत्मध्यान करना ही श्रेष्ठ है ।

आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां ।
प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततं ॥
तत्किं मुह्यत शासनादपिगुरोर्भ्रांतिः समुत्सृज्यता—।
मंतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्तीक है तो भी शरीरमें मौजूद है, यद्यपि दिखाई नही पड़ता है तथापि 'मैं' इस शब्दसे निरन्तर प्रगट है तब क्यो तुम मोहित होते हो, गुरुके उपदेशसे भ्रमको छोड़ो और मनके द्वारा निश्चय करके उसी आत्माकी तरफ अपने इद्रियसमूहको तन्मयी करके उसीका ही अनुभव करो ।

वास्तवमें आत्मध्यान ही आत्माके कल्याणका मार्ग है इसलिये उसीका ही यत्न करना एक बुद्धिमान प्राणीके लिये हितकारी है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो बुध आतम काय उद्यमरतो सो कार्य करते नही ।
जासे कृत्य अकृत्य बोध नहिं हो निजमोक्ष होवे नही ।
नहिं होवे वैराग्य कर्म क्षय ना ध्यानात्म होवे नही ।
जो जन बाधा शीत टालनमती सो अग्नि शमता नही ॥५२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्याता मानव को उचित है कि क्रोधादि भावों को दूर रक्खे—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभि. ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते ॥
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेष-प्रमादादिभि.) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्षा, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावोके द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः) शुद्ध ध्यानको बढ़ानेवाले मनकी (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदान-चतुरैः हुताशैः हेम्नः काठिन्यं इव) तीव्र गर्म करनेवाली अग्निके द्वारा सुवर्णकी कठिनताके समान (क्षिप्यते) नष्ट होजाती है (ततः) इसलिये (ध्यानविधायिभि.) ध्यान करनेवालोके द्वारा (इमे कामादयः) ये काम क्रोधादि भाव (दूरतः) दूरसे ही (त्याज्याः) छोड़ने योग्य हैं।

भावार्थ—जैसे सोना कठिन होता है परन्तु यदि उसको अग्निकी ज्वालाओंका ताप लग जावे तो पतला होकर वहने योग्य होजाता है, सोनेकी कठिनता नष्ट होजाती है, इसी तरह जो मानव आत्मध्यान करना चाहते हैं और वीतरागभावोको मनमें वढ़ाना चाहते हैं उनके मनकी थिरता काम, क्रोध, मान,

माया, लोभ, भय, प्रमाद आदि भावोके आक्रमणसे नष्ट होजाती है। इसलिये जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उनको इन भावों से दूर रहना चाहिये तथा उन निमित्तोसे भी बचना चाहिये जिनके द्वारा मन काम क्रोधादि भावोंमे फस जावे। इसीलिये उनको आरम्भ परिग्रहका त्याग करना चाहिये। गृहस्थीके प्रपंचजालोसे अलग रहना चाहिये। लौकिक जनोकी संगतिसे बचना चाहिये। स्त्रियोके ससर्ग से दूर रहना चाहिये। वनोमे व एकांत स्थानोमे बैठना, शास्त्र स्वाध्याय करना व ध्यान करना चाहिये, अल्पाहारी होना चाहिये। निष्ट हितकारी बचन बोलने चाहिये। स्वाध्याय व ज्ञानके विचारमे नित्य अनुरक्त होना चाहिये। जिन जिन कारणोसे मनमे चंचलता होजावे व कषायका वेग उठ जावे उन सब निमित्तोसे परे रहकर व बिलकुल मनको निश्चिन्त करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

श्रीशुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते है कि वीतरागीको ही आत्मध्यानकी सिद्धि होती है—

रागादिपंकविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति नि शेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७॥
स कोपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कीचडके हट जानेसे मुनिके निर्मल मनरूपी जलमे सम्पूर्ण वस्तुका सर्वस्व प्रगट होता है अर्थात् आत्माका ध्यान प्रकाशमान होता है। वीतरागीको ही ऐसा कोई परमानंद प्राप्त होता है जिसके सामने तीन लोकका भी अचिंत्य ऐश्वर्य तृणके समान मालूम होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।
काम क्रोध विषाद मोह मदसे द्वेष प्रमादादिसे ।
जो मन निर्मल ध्यान बीच रत हो थिरता न होवे तिसे ॥
जैसे सुवरण अग्नि ताप वश हो काठिन्य तज देत है ।
इम लख ध्यानी काम आदि सबको अति दूरकर देत है ॥५३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्यानीजन मुक्तिके लिये ही ध्यान करते हैं—

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं ।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम् ॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो ।
नोपायेन विना कृता हि विषय. सिद्धि लभंते ध्रुवं ।५४।

अन्वयार्थ—(निर्मुक्तभोगस्पृहः) जिस महात्माने भोगोंकी इच्छाको त्याग दिया है वही (दुर्वारं) इस कठिनतासे वशमें आनेयोग्य (लोल) लोलुपी या चचल (मनोमर्कटम्) मनरूपी बंदरको (इंद्रियगोचरोरुगहने) जो पाँचो इन्द्रियोंके भोगरूपी महान वनमें (चिर) अनादिकालसे (चरिष्णु) क्रीड़ा कररहा है (व्यावृत्य) वहाँसे हटाकर (हृदयोदरे) हृदय के भीतर (स्थिरतरं कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवतते. मुक्तये) ससारके फैलाव से छूट जानेके लिये (ध्यान ध्यायति) ध्यानका अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि उपायेन विना)· उपायके विना (विषय. कृता) जो रीतिये की जावे तो वे ध्रुवम्) खातरीसे (सिद्धि) सफलताको (न लभते) नही पाती हैं।

भावार्थ—ससार आठ कर्मोंके बधनसे ही चलरहा है। इसलिये इन कर्मोंका नाश होना ही संसारका नाश है और मोक्षका

लाभ है। कर्मोंका नाश वीतरागभावसे होता है क्योंक उनका बन्धन रागद्वेषादि भावोसे हुआ करता है। वीतरागभावोकी प्राप्ति तब ही होती है जव आत्माका ध्यान किया जाता है। आत्माका ध्यान उसी समय होता है जब मनरूपी बन्दरको वराग्यके खूटेसे बाँध दिया जावे। यह मन अनादिकालसे पाँचों इंद्रियोके भोगोकी इच्छामे उलझा हुआ रहता है और महा चचल तथा लोलुपी हो रहा है। इस मनको बारह भावनाके चिन्तवनसे इद्रियोकी तरफसे हटाकर स्थिर किया जाता है तबही ध्यान होसकता है। इसलिए ध्यानके अभ्यासकर्ताको उचित है कि सम्यग्ज्ञान व वराग्यके द्वारा मनकी दशाको ठीक करे। पुरुषार्थके बिना किसी भी कार्यकी सिद्धी नही हो सकती है। लौकिक कार्यके लिए जैसा दीर्घदर्शीपनेके साथ विचार करके परिश्रम करनेकी जरूरत है ऐसे ही पारमार्थिक कार्योंके लिए विचारपूर्वक परिश्रम करनेकी जरूरत है। मनके मारनेसे ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है।

सुभाषित रत्नसंदोहमे स्वयं अमितगति महाराज कहते हैं—

नो शक्य यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं।
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसाम् ॥
जीवाजीवादितत्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्य निवेश्य।
तत्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्व प्रयासि ।४०८।

भावार्थ—जो तीन लोकके बीचमे मारा मारा फिरता है उस मनका रोकना बडा कठिन है तथापि इसके रुक जानेसे मनुष्योके सर्व ही ससारमे भयको देनेवाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए तुम मनको जीव अजीव आदि तत्वोके प्रगट करने मे निपुण ऐसे जैन वचनमे लगाकर तत्वके विचारमे इसे जमा

से तब तुम आत्मीक सुखको देनेवाले अपने आत्माके स्वभाव को प्राप्त कर लोगे।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो इंद्रिय वनगहन मध्य रमता चिरकाल लोलुपमहा।
दुर्जन मन कपि थांभ आप वशकर कर ध्यान आतम महा॥
इच्छा तजकर भोग होय निस्पृह भव जाल काटो महा।
विन पुरुषार्थ प्रधान काज कोई नहिं सिद्ध होता महा॥५४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि योगीको एक आत्मतत्वका ही ध्यान करना चाहिए—

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यापायेऽखिला:।
जायते भुवनप्रकाशकुशला ध्वांतप्रतानोपमा:॥
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायतें योगिभि:।
तत्तत्वं परिचितनीयममलं देहस्थितं निश्चलम्॥५५॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस तत्वके (व्यपाये) अभावमें (भुवनप्रकाशकुशला:) लोकको प्रकाश करनेमे कुशल ऐसे (अखिला:) सर्व (चद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतय) चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदिक (ध्वांतप्रतानोपमा:) अंधेरेके समूहके समान (जायते) होजाते हैं (यत् विज्ञानमयप्रकाशविशदं) जो ज्ञानमई प्रकाशको वहुत निर्मल रखनेवाला है व (यत् योगिभि. ध्यायते) जो योगियोंके द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमल) निर्मल (निश्चलं) व निश्चल (तत्व) आत्मतत्वको (देहस्थितं) अपने ही शरीरमे विराजमान (परिचिंतनीयम्) ध्याना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने आत्माकी तरफ ध्यान खिचाया है। वह आत्मा जिसका ज्ञान हमको प्राप्त करना चाहिए और

ज्ञान प्राप्त करके जिसको हमें ध्याना चाहिए यह आतमराम कही दूर नही है आपही है अपने शरीरभरमे सम्पूर्णपने व्यापक या फैला हुआ है। जैसे घडे में जल भरा होता है ऐसे ही अपने शरीररूप घटमे सर्व स्थानमे फैला हुआ है। वह पूर्ण ज्ञानमय है—उसका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि उसमे सर्व ही जानने योग्य पदार्थ दर्पणके समान झलकते है, इस आत्माका जबतक सम्बन्ध शरीरसे रहता है तबतक ही हम अपनी आखोसे चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदि पदार्थोंको देख सकते हैं। यद्यपि वे लोकमें प्रकाशमान हैं और जगत के बाहरी पदार्थोंको झलकाते है तथापि यदि हमारे भीतर आत्मतत्व न हो तो हम उनको देख नही सकते तब तो वे हमारे लिए मानो अंधकारके समूह ही हैं। जिस आत्माके होते हुए हम बाहर भीतर सब कुछ देख सकते है व जान सकते हैं तथा यही वह आत्मतत्व है जिसका योगीगण ध्यान करते है। तीर्थंकर भी इसीका ही अनुभव करते हैं। वही आत्मतत्व हमारी देहमें है वह बिलकुल निर्मल है, कर्मोके मध्य पड़ा है तो भी स्वभावसे उनसे भिन्न है। यह ऐसा निश्चय है कि कभी भी अपने स्वभावको त्यागता नही है ऐसे ही आत्मतत्वका चिंतवन हरएक गृहस्थ या मुनिको करना उचित है। यहा पर आचार्यने बता दिया है कि जिस तत्व पर पहुंचना है व जिस तत्वका ध्यान करना है, वह तत्व आपही है, वह तत्व बिलकुल हमको प्रगट है। यदि वह शरीरमे न होवे तो इद्रियां कुछ जान नही सकती है। वह तत्व ज्ञानस्वरूप है सो भी अच्छी तरह प्रगट है। वह निर्मल जलके समान परम शांत, परम पवित्र व परम आनन्दमई है। इस तरह जो ज्ञानके चिह्नसे उसे पकड़ेगा उसे अवश्य वह तत्व मिल जायगा। बडे २ साधुजनोंको वही तत्व प्यारा है, हमें भी उसे ही ध्याना चाहिए। श्री पद्मनंदि

मुनि सद्बोध चन्द्रोदयमे कहते हैं—

य: कषायपवनैरचुंबितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दश. ।
किं न मोहतिमिरं विखडयन् भासते जगति चित्प्रदीपक. ।३७।

भावार्थ—जो क्रोधादि कषायोकी हवासे स्पर्शित नही होता है, जो ज्ञानरूपी अग्निको धारनेवाला है, जो निर्मलपने उद्योतमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगत्‌में प्रकाशमान है तो क्या वह मोहरूपी अ धेरेको नही खडन करेगा? वास्तवमें वह दीपक मैं आत्मा ही हूँ। वही मुनि एकत्वाशीतिमे कहते हैं—

संयोगेन यदा यातँ मत्तस्तत्सकलं परम्।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोहमिति मे मति. ॥२७॥

भावार्थ—जो कुछ शरीरादिका सयोग मेरे साथ चला आ रहा है वह सब मुझसे पर है—भिन्न है। जव मैं उनसे मोह त्याग देता हूँ मैं मानो मुक्तरूप ही हूँ ऐसी मेरी बुद्धि है।

इस तरहके आत्मतत्वको ध्याना परम सुखका कारण है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

शशि सूरजग्रह तारकादि ये सव लोक प्रकाशी रहे।
पर आतमविन तम समूह जैसे कुछ भी न कीमत लहें॥
जो विज्ञानमई सुनिर्मल महा यतिजन जिसे ध्यावते।
वह निश्चल है आत्मतत्व बुधजन निज देहमे पावते ।५५।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अज्ञानी मन मरण आनेवाला है इसको नही देखता हुआ अधर्ममें फसा रहता है।—

भज्येतेत्य शरीरमंदिरमिदं मृत्युद्विपेन्द्रः क्षणा-
दित्युच्छ्वासमिषेण मानसबहिर्निर्गत्य किं ॥
पश्यंस्त्वं न निरीक्षसेऽतिचकितं तस्यागति चेतनां ।
वै येनामरचेष्टितानि कुरुषे निर्धर्मकर्मोद्यमम् ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मानस) हे मन ! (मृत्युद्विपेन्द्र.) मरणरूपी हाथी (एत्य) आकर (क्षणात्) क्षणभरमे (इदं शरीरमदिरम्) इस शरीररूपी घरको (भज्येत) तोड़ डालेगा (इति) ऐसा जानकर (त्वं) तू (उच्छ्वासमिषेण) श्वासोच्छ्वासके वहाने (वहि.) वाहर (निर्गत्य निर्गत्य) आआकर (अतिचकितं) अति भयभीतपनेसे (पश्यन्) देखता हुआ (वै) वडे खेदकी वात है (तस्य आगतिं) उस मरणके आनेकी (चेतनां) चेतनाको (न निरीक्षसे) नही देखता है अर्थात् मरण आनेवाला है ऐसी वुद्धि अपने भीतर नही जमाता है (येन) यही कारण है जिससे तू (अमरचेष्टितानि) अपनेको अजरअमर मानके व्यवहार करता हुआ (निर्धर्मकर्मोद्यमम्) धर्मरहित कर्मोका उद्यम(कुरुषे)करता रहता है ।

भावार्थ— यहाँ पर आचार्यने संसारी जीवके मनकी मूर्खता को वताया है कि यह मन मरणसे दिनरात डरतारहता है इसके डरके दृष्टान्तको आचार्यने अलंकार देखकर वताया है—कि प्राणी के जो श्वाँस चला करता है सो यह श्वास नही है किन्तु मन वाहर आकर वारवार डरते हुए देखता है कि कही मरणरूपी हाथी आ तो नही गया । जैसे किसीको कोई कहदे कि तुझे मारनेको कोई शत्रु आनेवाला है तो वह उस शत्रुसे वचनेके उपाय तो न करे, वारवार घरके वाहर आकर देखाकरे कि कहीं शत्रु आ तो नही गया ।

ऐसी मूर्खता यह मन कररहा है कि बारवार शंका किया करता है कि कही मरण न आजावे परन्तु इस बातमे अपना मन नही जमाता हैं कि मरण तो एक दिन जरूर आवेगाही मुझको सावधान होजाना चाहिए और ऐसा उद्यम करना चाहिये जिस से मेरे आत्माका कल्याण हो, मै मरकर दुर्गतिमे न जाऊं। यह ऐसी मूर्खता करता है कि फिर भी अपनेको अजरअमर समझता है और मन चाहा अधर्म कार्य करता रहता है, यही बडे खेदकी बात है। प्रयोजन यह है कि हे भव्य जीव ! मरणरूपी हाथी किस समय इस शरीररूपी घरको तोड़ डाले इसका कोई समय नियत नही है। वह जब अचानक आजाता है उस समय कुछ उपाय नही बन सकता। इसलिये मरणके आनेके पहले ही तुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिये और वह उत्तम कार्य एक आत्मध्यान है। उसकी तरफ पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये यह तात्पर्य है।

स्वामीअमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

मृत्युव्याघ्रभयकराननगतं भीत जराव्याधत—
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु.खतरुमत्संसारकातारगम् ॥
क- शक्नोति शरीरिण त्रिभुवने पातुं नितान्तातुर।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकर जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ—यह शरीरधारी प्राणी ऐसे भयानक संसाररूपी वनमे पड़ा हुआ है जहा तीव्र रोग व दु.सह दु.खमई वृक्ष भरे हैं व जहाँ बुढापारूपी शिकारी है जिससे वह डरता रहता है व जहाँ मरणरूपी सिंह है और यह प्राणी उसके भयंकर मुखके बीचमे आगया है। अब इस महान् व्याकुल प्राणीको तीन भुवन मे ऐसा कौन है जो बचा सके? यदि कोई है तो जन्मजरा मरण

को क्षयकारी श्री जिनेन्द्रका धर्मरूपी अमृत है, इसके बिना कोई बचा नहीं सकता है। वास्तवमे वही मानव बुद्धिमान है जो इस मानव देहको अत्यन्त दुर्लभ व छूटनेवाला मानकर इसको आत्म धर्ममें लगाकर सफल करते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

क्षणमे नाशे घर शरीर तेरा है मृत्यु हाथी बड़ा।
भयसे श्वासें वार वार लेके क्यो है तु बाहर खडा॥
श्रद्धा नहिं करता कि होय मरना माने अमर मैं रहूँ।
रे मन ! मूरख पापकर्म उद्यम करता तुझे क्या कहूँ॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भके विकल्प किया करते है और जैनधर्मंमे प्रीति नहीं करते।

शिखरिणी वृत्तम्

करिष्यामीदं व कृतमिदमिद कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्रं नयसि सकलं कालमफलम्॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं।
न जैने शुचितत्वे वचसि रमसे निर्वृतिकरे॥५७॥

अन्वयार्थ—(इद) यह (करिष्यामि) मैं करूंगा (वा)अथवा (इदं कृत) यह मैंने किया था (अधुना इदं कृत्यं करोमि)या अब मैं यह काम करता हूँ (इति) इसतरह (व्यग्र) घवड़ाया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपरं) रागद्वेषके करनेमें लगा हुआ (स्वार्थविमुखं) अपने आत्माके हितमे विमुख होता हुआ तू (सकलं कालं) अपने सम्पूर्ण जीवके समयको (अफल) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परन्तु (शुचितत्वे) पवित्र तत्वको बताने

वाले व (निर्वृतिकरे) मोक्षको प्राप्त कराने वाले (जैनें वचसि) जिन वचनमें (न रमसे) रमण नही करता है।

भावार्थ—यहाँपर आचार्य इस मूर्ख मनको समझाते हैं कि तू ऐसा शरीर, स्त्री, धन, पुत्र, कुटुम्ब आदिके मोहमें पड़ा हुआ है कि रात दिन तेरे यही विचार रहा करता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है और यह काम मैं इस समय कर रहा हूँ व ऐसा ऐसा काम मुझे भविष्यमे करना है,यह तेरी विचारोंकी शृंखला तेरी जिन्दगीभर चलती रहती है। जैसे तू विचार करता है कि अब इतना धन कमा लिया है, अब वह धन कमा रहाहू, अभी इतना धन कमाना है। एक पुत्रका विवाह कर चुका हूँ दूसरेका विवाह करना है। एक पुत्रको व्यापारमे लगा चुका हूँ दूसरेको व्यापारमें लगाना है। पुत्रके पुत्रका अर्थात् पोतेका मुँह देखना है। पोता होवे तो शीघ्र बड़ा करके उसका विवाह करके उसकी बधूको भी देखना है। उसने मेरा बड़ा बिगाड किया है उसे इसका बदला पहुँचाना है। मेरी स्त्री बहुत वस्त्राभूषण चाहती है इसके लिये गहना बनवाना है। आज अमुक व्यापारीका दिवाला निकल गया। रकम डूब गई क्या करूँ। उसपर किसी तरह मुकद्दमा चलाना है। इस तरह करोडो कामोको तू विचार करता है। सवेरेसे शाम होती है, शामसे सवेरा होता है, तू तो ससारी काम धधोंकी ही चितामे फसा रहता है, कभी उनकामों की डोरी नही टूटती। उधर मरण निकट आजाता है, तू बावला अपने आत्माके हितके लिये कुछभी समय नही निकालता है—ममता मोहमे और रागद्वेषमें फसा हुआ सारा जीवन बिताकर इस अमूल्य नरजन्मको खो देता है। परमोपकारी जैनधर्ममें रुचि नही लगाता है न जिनवाणीको पढ़ता है जिससे

सच्चे आत्मतत्वका ज्ञान होवे और इस मोक्षमार्गको प्राप्त कर सके। अतएव आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि गृहस्थके जंजालमे बावला न होवे और जिनवाणीकी शरण लेकर अपना सच्चा हित कर डाले।

वास्तवमे जो इंद्रियोके विषयोमे उलझ जाता है उसका जन्म यो ही चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोहमे स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

एकैकमक्षविषयं भजताममीषां
संपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।
पंचाक्षगौचररतस्य किमस्ति वाच्य-
मक्षार्थमित्त्यमलधीरधियस्त्यजन्ति ॥८८॥

भावार्थ—एक एक इंद्रियके वशमे रहनेवाले जीवोको यदि यमराजके घरका अतिथि होना पडता है तब जो जीव पाचों इंद्रियोके विषयमे रत होता है उसके लिए क्या कहा जावे ऐसा जानकर निर्मल और धीर बुद्धि रखनेवाले पुरुष इद्रिय विषयों को छोड़ देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शिखरिणी छन्द।

करूंगा यह कारज अर कर चुका कार्य यह मै।
अभी यह करता हूँ रत नित प्रीति मोह तन्मय॥
गमावे सव जीवन विफल कर निज हित न देवे।
शिवंकर जिन वचमें घ्यान कुछ भी न देवे ॥५७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही प्राणीका रक्षक है—

कुर्वाणोऽपि निरंतरामनुदिनं बाधां विरुद्धक्रिया।
धर्मारोपितमानसैर्न रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन॥

धर्मापोढधिय परस्परमिमे निघ्नति निष्कारणम् ।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकरं देहिनां ।५८।

अन्वयार्थ--(कश्चन) कोई मानव (अनुदिनं) प्रतिदिन(निरंतरां) बहुतसी (बाधां) बाधा कारक (विरुद्धक्रिया, विरुद्ध क्रियाको (कुर्वाण. अपि) करता रहता है तौ भी (धर्मारोपित मानसैः रुचिभि·) धर्ममे मनको जमाए रखनेवाले रुचिवान प्राणियोके द्वारा (न) नही (व्यापाद्यते) पीड़ित किया जाता है, (धर्मापोढधिय.) धर्ममे जिनकी बुद्धि नही हैं ऐसे मानव (परस्परम्) परस्पर (निष्कारणम्) विना कारण (निघ्नंति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोडकर (भुवने) इस जगत्मे (देहिनाँ) शरीर धारियोका (रक्षा करं) रक्षा करनेवाला और (नास्ति) नही है।

भावार्थ--यहांपर आचार्यने धर्मकी महिमा बताई है कि जिनके चित्तमे धर्मभाव है, जो दयालु हैं व क्षमावान हैं वे किसी को पीड़ा नही देते। यदि कोई उनको बाधा देता है व उनके विरुद्ध क्रिया करता है तोभी उसपर क्षमाभाव रखके उनको कष्ट नही देते। वीतरागी जैन साधुओमें धर्मभाव पूर्ण रीतिसे भरा रहता है इसलिए वे किसीको सताते नही हैं कोई उपसर्ग करे तोभी क्रोध नही लाते हैं। यह महिमा उनके भीतर शांत भावरूपी धर्महीकी हैं परन्तु जिनके हृदयमे दया, क्षमा, शांति आदि धर्म नही होते है व विना कारण ही एक दूसरेसे लड़ते झगडते रहते हैं व कष्ट देते रहते हैं व प्राणतक लेते रहते हैं। वास्तवमें तीनलोकमे जीवोकी रक्षा करनेवाला एक धर्म ही है। धर्म जिसके मनमे है वह प्राणियोका रक्षक है। धर्म जिसके मन नही वह प्राणियोका हिंसक है। यदि कष्ट दूंगा तो इसको

वैसा ही कष्ट होगा जैसा मेरेको होता है यह भाव जिनके दिल में होता है वे ही धर्मात्मा है। धर्म जिसमे नही है वह वास्तवमें मनुष्य ही नही है। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते हैं–

हरतिजननदु.खं मुक्तिसौख्यं विधत्ते।
रचयति शुभबुद्धि पापबुद्धि धुनीते॥
अवतिसकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति।
प्रशमयति मनोयंस्तं बुधा धर्ममाहु.॥७०८॥

भावार्थ- जो संसारके दु.खोको हरता है, मुक्तिके सुखको देता है, सच्ची बुद्धि बनाता है, पापकी बुद्धिको मिटाता है, सर्व प्राणियोकी रक्षा करता है, तन तथा मनको शात रखता है उसे ही बुद्धिमानोने धर्म कहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो करता दिन रात कार्य उल्टे बाधा करे सर्वदा।
जो धर्मी रुचिवान आर्द्रचित हो वाको न मारे कदा॥
आपसमे कारण विना हि हिंसक जो धर्म पावे नही।
प्राणीरक्षक धर्म विन जगतमे को और भावे नही॥५८॥

उत्थानिका–आगे कहते है कि जिस परिग्रहको एक दिन छोड़ना पडेगा उसको तू अपने आप ही क्यो नही छोडता है–

नानारभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्यं यस्त्यज्यते।
दु.प्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः॥
आदावेव विमुंच दु:खजनकं तं त्वं त्रिधा दूरत–
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकर हास्यास्पदं मा कृथाः॥५९

अन्वयार्थ—(नानारम्भपरायणैः) तरह २ के आरम्भोंमे लीन (निरवरै.) वड़े २ मनुष्योंके द्वारा (आवर्ज्य) एकत्रकरके (दु.प्राप्य· अपि) कठिनतासे प्राप्त करने योग्य ऐसा भी (यः परिग्रह.) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणोके वियोग होनेपर (तृणं इव) तिनकेके समान (त्यज्यते)छोड़ देना पडता है(पुन.) परन्तु (त्वं) तू (दु·खजनकं तं) दु.खोको उत्पन्न करनेवाले उस परिग्रहको (आदौ एव) पहले ही (दूरत.) दूरसे (त्रिधा)मन, वचन, काय तीनोसे (विमुंच) छोड दे (चेत. मस्करिमोदक-व्यतिकरं) तू अपने चित्तको भिष्टामे पड़े हुए लाडूको उठाकर फिर फेंककर (हास्यास्पदं मा कृथा) हसीका स्थान मत बन।

भावार्थ—यहांपर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह वड़ी २ मिहनतोसे एकत्र किये जाते हैं। ऐसी भी वस्तुएं संग्रह की जाती हैं जो हरएकको मिलना दुर्लभ हैं। परतु करोडोकी सपत्ति क्यों न हो व कैसी भीं कठिनतासे क्यो न एकत्र की गई हो वह सव परिग्रह विलकुल छोड़ देना पडता है जव मरणका समय आजाता है। जैसे हाथसे तिनका गिर पडे ऐसे ही सव छूट जाता है। जव परिग्रह आत्माके साथ जानेवाला नही है तव ज्ञानवान प्राणीको उचित है कि पहले वह परिग्रह स्वयं छूटे, ज्ञानीको स्वयं मोह त्यागकर छोड़ देना चाहिए और यदि परिग्रह नही हो तो नया परिग्रह एकत्र करनेकी लालसा न करनी चाहिये। परिग्रहको ग्रहण कर फिर छोडना वास्तवमें हसीका स्थान है। जैसे एक फकीरको किसीने बहुतसे लड्डू दिये उसमेसे एक लड्डू विष्टामे गिर पडा, उस लोभीने उसे उठा लिया तव किसीने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डूको तुमने क्यो उठाया ? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर

जाकर इसे छोड़ दूंगा। तव उसने वडी हंसी उडाई कि अरे जिसको फेंकना ही हैं उसको उठानेकी क्या जरूरत थी? इसी दृष्टांतसे आचार्यने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नही है--यह आत्मकार्यमें बाधक है वास्तवमें चेतन अचेतन परिग्रहका मोह आत्माको करोड़ो संकल्प विकल्पोमे पटक देनेवाला है। इससे जो निर्विकल्प समाधिको चाहते हैं और आत्मीक आनन्दके भोगनेके इच्छुक हैं उनको यह परिग्रह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

श्री शुभचंद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमे कहा है—

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैरभिद्रुतः ॥१८॥

भावार्थ—यह मानव परिग्रहोंसे पीड़ित होता हुआ इंद्रियोंके विषयरूपी सर्पोंसे काटा जाता है, कामके बाणोंसे भेदा जाता है तथा स्त्रीरूपी शिकारीसे पकड़ लिया जाता है।

यः संगपंकनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥१९॥

भावार्थ--जो मूर्ख परिग्रहकी कीचड़में डूबा हुआ भी मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह मानों फुलोंके बाणोंसे सुमेरु पर्वतको तोड़ना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रथान्मोहग्रंथिर्दृढीभवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥२०॥

भावार्थ—यहां आचार्य अज्ञानी जीवकी चेष्टा बताते हैं कि यह जीव स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिकोको अपना मान लेता है। जब उनमेसे किसीका मरण होजाता है तब उनके मिलनेके लिये शोक किया करता है। वे कभी फिर उसी शरीरमे आकर मिल नही सकते, क्योकि उनमेसे हरएकका जीव अपने अपने शुभ या अशुभ भावोके अनुसार जैसा आयु कर्म बाध चुका था उस ही गतिमे चला गया है। किसीने देवआयु बाधी थी तो वह देव होगया, किसीने नरक आयु बाधी थी वह नारकी होगया, किसीने पशु आयु बांधी थी सो पशु होगया, किसीने मनुष्य आयु बाधी थी सो फिर कोई अन्य प्रकारका मनुष्य होगया। उनके शरीरोको उनके कुटुम्बी अपने सामने दग्ध ही कर चुके हैं। इस लिये अपने मरे हुए पुत्रादिका शोच करना कि वे किसी तरह मिल जावें, महान बावलापना है। यह ऐसा ही असभव है जैसे उन परमाणुओको फिर इकट्ठा करना असभव है जो कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे दश दिशाओमे उड गए हैं। किसी मानवकी शक्ति नही है कि उनको सचय कर सके। इसी तरह किसी मानवकी शक्ति नही है कि मरे हुओको जिला सके व उनसे मिल सके। इससे हमें व्यर्थकी चिंता छोड़कर अपने निज कार्यमे तत्पर रहना चाहिये।

श्रीपद्मनदिस्वामीने अनित्य पचाशत्मे बहुत अच्छा कहा है—

एकद्रुमे निशि वसंति यथा शकुंता।
प्रात प्रयाति सहसा सकलासु दिक्षु ॥
स्थित्वाकुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा।
लोकाः श्रयति विदुषा खलु शोच्यते क ॥१६॥

भावार्थ—जैसे एक वृक्षपर रात्रिको बसेरा करनेवाले पक्षी सवेरा होते ही सर्व दिशाओंमे यकायक भाग जाते हैं। इसी तरह प्राणी एक कुलमे आयुपर्यंत ठहरकर फिर मरकर अपने २ कर्मानुसार अन्य कुलोमे आश्रय कर लेते हैं विद्वान किस किसका शोच करे ? शोच करना वृथा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

भाई पुत्र कलत्र मित्र आदि निज भाव अनुसार थे।
गतिको वावत जात भिन्न गतिको मिलते न को काल थे॥
तिनका शोच वृथा न वुद्ध करते परमाणु मिलना कठिन।
जो भागे दशदिशा पवन सेती कल्पांतके अशुभ दिन ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है क्योकि उनसे तृप्ति नही होती है।

भोज भोजमपाकृता हृदय ये भोगस्त्वयानेकधा।
तांस्त्वं कांक्षसि किं पुनः पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण:
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदयं विभ्रतः।
देवो चित्रमरी चिसचयचिते वल्ली कुतो जायते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा(ये अनेकधा भोगा:) जो अनेक प्रकारके भोग (भोज भोज) भोग भोग करके (अपाकृता. छोडे जाचुके हैं (अहो) अहो वडे खेदकी वात है कि (त्व) तू (पुन पुन) वारवार (तान्। उन हीको कॉक्षसि)इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिण.) तेरी इच्छामे अग्नि डालनेके समान हैं अर्थात् तृष्णाको वढानेवाले हैं (तृष्णोदयं विभ्रत. तव) तृष्णाकी वृद्धिको रखनेवाला ऐसा तू जो है सो तेरी(तृप्ति:)तृप्ति(तेषु)उन भोगोके भीतर(कदाचित्)कभी भी

(न अस्ति) नही होसकतो है। जैसे (चित्रमरीचिसचयथिते देशे) कड़ी धूपसे तप्तायमान स्थानमे या आगमे तपाए हुए स्थानमें (कुतः) किसतरह (वल्ली,वेल(जायते) उग सकती है ?

भावार्थ—यहांपर आचार्यने भोगासकता मानवकी भोगोंकी वाछाको धिक्कारा है । इस जीवने अनतकाल होगया चारों ही गतिके भीतर भ्रमण करते हुये अनेक शरीर धारण करके उनमें अनेक प्रकार इंद्रियोके भोग भोगे और छोड़े। उनके अनंतकाल भोग लेनेसे भी जब एक भी इद्रिय तृप्त नही हुई तब अब भोगोके भोगनेसे इद्रिया कैसे तृप्त होगी? वास्तवम जैसे अग्निमें इंधन डालनेसे अग्नि बढती चली जाती है वैसे इद्रियोके,भोगोके भोगने से तृष्णाकी आग और वढती चली जातो है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परंतु उसको इन भोगोस कभी भी तृप्ति नही होसकी है जैसं अग्निसे या धूपसे तपे हुए जलते स्थानमें कोई भी वेलका वृक्ष नही उग सकता है। इसलिये बुद्धिमानोको बारबार भोगोको भोगकर छोड हुए भोग'की फिर इच्छा न करनी चाहिये । क्योकि जो तृष्णारूपी रोग भोगोंके भोगनेरूप औषधि सेवनसे मिट जावे तब तो भोगको चाहना मिलाना व भोगना उचित है परतु जब भोगोके कारण तृष्णाका रोग और अधिक बढ जावे तब भोगोकी दवाई मिथ्या है यह समझकर इस दवाका राग छोड़ देना चाहिये । वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिये जिसस तृष्णाका रोग मिट जावे। वह दवा एक शांत रसमय निज आत्माका ध्यान है जिससे स्वाधीन आनद जितना मिलता जाता है उतना उतना ही विषयभोगोंका राज घटता जाता है, स्वाधीन सुखके विलाससे ही विषयभोगकी वाछा मिट जाती है। अतएव इद्रिय सुखकी आशा छोड़कर अतीन्द्रिय

सुखकी प्राप्तिका उद्यमकरना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पं.।

प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम्॥

स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं।

किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्त.॥६४॥

भावार्थ—जिस महात्माने इंद्रियरूपी शत्रुके घमंडको मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मामे ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवोसे न अनुभव करनेयोग्य आत्मीक सुखको पाता है वैसे सुखको वह मनुष्य कदापि नही पासकता है जिसका चित्त भयानक विषयोकी अग्निसे जलता रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

रे मन! तूने भोग भोग छोडे इद्रिय विषय बहु तरह।
क्यो तू चाहे वारवार उनको तृष्णाग्नि वृद्धि करै॥
जो तृष्णातुर होय भोग करते तृप्ती न होवे कभी।
अग्नीसे जलते कुखेत माही नहिं वेल उगती कभी॥६१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जीवको पर पदार्थमें अहंकार छोड़कर आत्मध्यान करना योग्य है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं।

मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणी.॥

इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरी त्वं सर्वथा कल्पनाम्।

शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीयंत:।६२।

अन्वयार्थ—(आत्मन्) हे आत्मा (अहं शूर) मैं वीर हूँ (अहं शुभधी) मैं शुभ बुद्धिधारी हू (अहं मान्य.) मैं माननीय हूं (अहं गुणवान्) मैं गुणवान हूँ (अह विभु) मैं समर्थवान हूं (अहं पुंसाम् अग्रणी) तथा मैं पुरुषोमे मुखिया हूँ (इति) इस तरहकी (दुष्कृतकरी) पापको बाधनेवाली (कल्पनाम्) कल्पना को व मान्यताको (सर्वथा) सब तरहसे (अपहाय) दूर करके (त्वं) तू (शश्वत्) निरतर (तत् अमल आत्मतत्त्वं)उस निर्मल आत्मतत्त्वको (ध्याय) ध्यान कर (यत)जिससे(नं श्रेयसीश्री:) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने बताया है कि आत्मध्यानके लिये आत्माके यथार्थ ज्ञान होनेकी आवश्यकता है। ससारीलोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, वल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अह कार कर लेते हैं कि मैं सुन्दर हूं, मैं धनवान हूँ, मैं बहुकुटुम्बी हूं, मैं प्रतिष्ठावान हूँ, मैं वलवान हूँ,मैं धनवान हूँ, यहउनका मानना विलकुल मिथ्या है क्योकि एक दिन वह आएगा जिस दिन ये सब परपदार्थ व परभाव जोकर्मोके निमित्तसे हुए हैं छूट जाँयगे और यह जीव अपने बाधे पुण्य पापको लेकर चला जायगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मामे ही रखते है वे निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माके असली स्वभावपर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्वरागादि विभावोसे रहित है सर्व कर्मके बंधनोंसे रहित है। सर्व प्रकारके शरीरसे रहित है। आत्माका संबंध किसी चेतन व अचेतन पदार्थसे नही है। ये सब शरीरसे सबध रखते हैं जो मात्र इस आत्माका क्षणिक घर है इसलिये उन ज्ञानी जीवोकी अहबुद्धि अपने हीं शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहारमे काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कह दें कि मैं राजा हूं, वैद्य हूँ, शूर हूँ, चतुर हू, समर्थ हूँ

परन्तु वह अपने भीतर जानते हैं कि यह मुझे व्यवहारके चलाने के लिये व्यवहार नयसे ऐसा कहना पड़ता है परन्तु मैं इन स्वरूप असलमें नही हूँ । मैं तो वास्तवमें सिद्ध भगवानके समान ज्ञाता दृष्टा आनंदमई पदार्थ हूं। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यवहारीक कल्पना जालको जो पापबंध कारक हैं छोड़कर एक अपने आत्माको ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्माके ध्यानसे ही वीतरागताकी अग्नि जलती है जो कर्मोके इंधनको जला देती है। और आत्माको स्वर्णके समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिए ज्ञानीको आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्तिकी लक्ष्मी स्वयं आकर मिल जावे और संसारके चक्रकी फिरन मिट जावे।

एकत्वाशीतिमे श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाह न संशयः ।

यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमंदिरम् ॥५२॥

भावार्थ—"जो कोई शुद्ध चैतन्यमई पदार्थ हैं वही मैं हूँ इसमें कोई संशय नही है।" यह वचनरूप व विचाररूप कल्पना भी जिसमे नही है ऐसा मैं एक आनन्दका घर हूं।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।

संबंधोपि न केनापि दृढ़ पक्षो ममेदृश. ॥५४॥

भावार्थ—मैं एक चैतन्यमई हूँ और कुछ अन्यरूप कभी नहीं होता हूँ। मेरा किसी भी पदार्थसे कोई संबंध नही है यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है।

इस तरह जो दृढतासे आत्मज्ञानी है वे ही आत्मध्यान करनेको समर्थ होसकते है--

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मैं हूं शूर सुबुद्धि चतुर महा धनवान सबसे बडा।
मैं गुणवान समर्थ मान्य जगमे मैं लोकमे हूँ बडा ॥
हे आत्मन् ! यह कल्पना दुखकरी तू सर्वथा दूरकर।
नित निज आतमतत्त्व ध्याय निर्मल श्रीमोक्ष आवेस्वकर ।६२।

उत्थानिका--आगे कहते है कि क्रोधादि कषायोके त्याग विना मोक्ष होना कठिन है।

मालिनी वृत्तम्

धृतविविधकषायग्रंथलिगव्यवस्थम् ।
यदि यतिनिकुरुम्ब जायते कर्मरिक्तम् ॥
भवति ननु तदानी सिहपोताविदार्य--
शशकनलकरध्रे हस्तियूथ प्रविष्टम् ॥६३॥

अन्वयार्थ--(यदि) यदि (धृतविविधकषायग्रथलिगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायोको, परिग्रहको तथा भेषकी व्यवस्थाको पकड़कर रहनेवाले (यतिनिकुरुम्बं) साधुओंका समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मोसे खाली (जायते) होजावे अर्थात् मुक्त होजावे तो (ननु) मैं ऐसा मानता हूँ कि (तदानी) तब तो (सिहपोताविदार्यं शशकनलकरध्रे) सिहके बच्चेके द्वारा विदारण करनेको अशक्य खरगोशकी हड्डीके महीन छेदमे (हस्तियूथं) हाथियोका समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे।

भावार्थ--यहाँपर आचार्यने दिखलाया है कि जो यथाजात मुनि भेप, परिग्रह रहितपना व कषायोकी उपशमताको ध्यानमें न

लेकर तथा मनमानी परिग्रह व मनमाने तरह २ के भेषोको रख ले तथा क्रोध मान माया लोभादि कषायोंको भी न छोड़ें और यह मान ले कि हम मुनि हैं, हमतो जरूर कर्मोसे छूटकर मुक्त होजावेंगे तो उनका यह मानना एक असंभव बातको सम्भव करनेकी इच्छा करना है। जैसे यह असंभव है कि खरगोशकी हड्डीके भीतर ऐसा महीन कोई छेद हो जिसको सिंहका बच्चा भी नही फाड़ सके उस छेदके भीतर कोई मानले कि हाथियोके समूह घुसे चले जावेंगे तो यह मानना बिलकुल असंभव है उसी तरह यह मानना असभव है कि अंतरग व बहिरगकी परिग्रह को त्यागे विना कोई मुक्त होजायगा। परिग्रह और क्रोधादि कषाय ही तो ससारके वढानेवाले हैं वधको नित्यप्रति करानेवाले हैं उनके रहते हुए मानना कि मैं मुक्त होजाऊँगा बिलकुल उन्मत्तका भाव है। प्रयोजन कहनेका यह है कि यदि मुक्तिके परमानन्द को भोगना चाहते हो तो सर्व परिग्रहको व कषायादि भावोंको त्यागो। पूर्ण साम्यभाव रूपी चारित्रका आश्रय लो। तब ही वीतरागता झलकेगी, यही परिणतिकर्मोको निर्जरा करानेवाली है तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है।

परिग्रह मोक्षमार्गमे वाधक है ऐसा श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचल.।

न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्सवृतेन्द्रियः ॥२६॥

भावार्थ—यदि कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड़ दें और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे तो भी अतरग वहिरंग परिग्रह सहित मुनि कभी जितेन्द्रिय नही होसकता है।

न स्यात् ध्यातु प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥३९॥

भावार्थ—जिस मुनिका मन परिग्रह रूपी पिशाचसे अनेक तरहसे पीड़ित है उसका चित्त ध्यान करते समय स्वप्नमे भी निश्चल नही रह सकता है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

धर विविध कषाये ग्रंथ कर भेष नाना ।
यदि यति गण चाहे कर्मसे छूट जाना ।
शशक हाड़ छिद्रं शिशु सिह नहि छेद पावे ।
किम हस्ती यूथ वामें प्रवेश पावे ॥६३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो स्त्रियोके सुखको सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नही है ।

कष्टं वचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापराः ।
शर्माशां न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया ॥
मुंचंते मृगतृष्णिकास्विव मृगा पानीयकांक्षां यतो ।
धिक्तं मोहमनर्थदानकुशलं पुंसामवार्योदयम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कष्टं) यह बड़े दुखकी बात है कि (विपर्याशयाः) विरुद्ध अभिप्राय रखनेवाले मिथ्यादृष्टि (कुधियाः)और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्याः) मनुष्य (वचनकारिणीषु अपि नारीषु मानवके मनको फसानेवाली स्त्रियोमे भी (सदा तृष्णापराः) सदा तृष्णाको रखते हुये(कदाचनापि)कभी भी(शर्माशां) सुखकी आशाको (न मुंचते) नही छोडते हैं (मृगा मृगतृष्णिकासु पानीयकांक्षा इव) जैसे हिरण मृगजलमे अर्थात् पानी कैसे

एकभवे रिपुपन्नगदु:खं जन्मशतेषु मनोभवदु खम् ।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्त. कामरिपुं क्षणत क्षपयति ।५६४।
संयमधर्मविबद्धशरीरा: साधुभटा शरवैरिणमुग्रम् ।
शीलतप शितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधबलाद्विधुनन्ति ।५६५।

भावार्थ--शत्रु या सर्प एक जन्ममे दु ख देते हैं। परन्तु काम देवके द्वारा सैकड़ो जन्मोमें दु ख प्राप्त होता है इसलिए महान पुरुष बुद्धि द्वारा विचार करके इस कामरूपी शत्रुको क्षणमें नाश कर देते हैं। जो वीर साधु सयम और धर्मके पालनेमेंअपने शरीरको लगानेवाले हैं वे शील व तपरूपी तीक्ष्ण बाणोको मार कर अपने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे इस भयानक कामरूपी वैरीका सहार कर डालते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मिथ्याती अज्ञान भावधारी नारीनमे कर रती ।
पुन पुन लह भव कष्ट आशसुखकी तजता नही दुर्मती ॥
जिम मृगतृष्णा बीच चाह जलकी तजता नही मृग कभी ।
धिक् धिक् प्राणी कष्टकार मोह जीता न जाता कभी ।६४।

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि भव्य जीवोको उचित है कि आत्माके वैरी जो विषय कषाय हैं उनको नाश करे ।

पापानोकहसकुले भववने दु.खादिभिर्दुर्गमे ।
यैरज्ञानवश. कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा ॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वसयाशेषतो ।
विद्वाँसो न परित्यजति समये शत्रूनहत्वा स्फुट ॥६५॥

अन्वयार्थ--(पापानोकहसकुले) हिंसादि पापरूपी वृक्षोसे भरे हुए तथा (दु.खादिभि. दुर्गमे) दु.ख शोक आदि कष्टोंसे

कठिनतासे वचने योग्य ऐसे (भववने) ससाररूपी वनमें (यैः कषायविषयै) जिन इद्रियोके विषय और क्रोधादि कषायोके द्वारा (त्व अज्ञानवश.) तू अज्ञानके फँदमें पड़ा हुआ (अनेकधा) अनेक तरहसे (पीड़ित.) दु.खी किया गया है (रे) रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अवतो (पूत) पवित्र (ज्ञानं) ज्ञानको (उपेत्य) पा कर (तान्) इन विषय कषायोको (अशेषतः) सम्पूर्णपने (विध्वंसय) नाश कर। (स्फुट) यह बात साफ है कि (विद्वास) विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रून्) शत्रुओको (अहत्वा) विना मारे (न परित्यजति) नही छोडते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इस संसार वनमे कषाय और विषय बड भारी लुटेरे हैं। अज्ञानी प्राणी इनके मोहमें फँसकर वनमे घूमता फिरता है हिसादि क्रूर कर्मोंको करता है फिर उन पापोके फलसे अनेक प्रकारके दु.खोको उठाता है। इनके फँदसे बचना चाहिए। उपाय यह है कि इन शत्रुओको इसने अज्ञान से मित्र मान लिया है सो अब यह उस अज्ञानको छोडे और यह ठीक २ समझे कि ये मित्र नही है किन्तु बडे प्रबल शत्रु हैं। इनके मोहमे पडकर मैं दिनरात अपनी ज्ञानानन्दमई सपदाको लुटा रहा हूँ। जिस समय यह पवित्र ज्ञान हो जायगा कि मैं मोक्ष महलका रहनेवाला त्रिलोकज्ञ, त्रिकालज्ञ, अविनाशी, परम वीतरागी, स्वाधीन आनन्दका भोगी परमात्मा हूँ मेरा और इन पौद्गलिक रागादि भावोका क्या सम्बन्ध है। ये कलुषता लिये हुए हैं मैं शान्त रूप हूँ—ये दु खदाई है मैं सुखरूप हूँ—ये जड है व ज्ञानके निरोधक है मैं चेतन हूँ—ये अनित्य है मैं अविनाशी हूँ—ये आकुलताकारी हैं मैं आकुलता रहित हूँ। जिस समय यह भेदविज्ञान उत्पन्न होगा और यह सम्यक्‌दृष्टि होकर अपने आत्मसम्पदाको देखता हुआ वहांसे ज्ञान वैराग्य

अस्त्रोको उठायेगा और अपने आत्मानुभवरूपी वीर्यको सम्हा-रेगा तो यह इन शत्रुओको अवश्य भगा देगा। आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जन्म, उत्तम बुद्धि, जिन धर्मका समागम आदि सामग्री बहुत दुर्लभ हैं इन सबको पाकर यही अवसर है जो इस अनादि काल शत्रुओका सहार किया जावे यदि इस अवसरको चूका जायगा तो फिर इनके नाशका अवसर मिलना कठिन हो जायगा। बुद्धिमानोका कर्त्तव्य यही है कि जब मौका आजाय और शत्रु अपने वशमे आजावे तब उसको विना मारे या विना अधिकारमे किए हुए न जाने दे। नही तो शत्रुसे सदा ही कष्ट मिलता रहेगा। इसलिए यही उचित है कि भेदविज्ञानके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करके विषयकषायोको जीता जावे।

स्वामी अमितगतिजी सुभाषित रत्नसदोहमे कहते हैं—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं।
पुनरपि तदवाप्तिर्दु:खतो देहिनां स्यात् ॥
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं।
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वाञ्छा ॥११॥

भावार्थ—यदि किसी भी तरह इस मनुष्य जन्मको अल्प भोगोमे फँसकर नाश कर डाला जायगा तो फिर प्राणियोको बड़े कष्टसे इस मनुष्य जन्मका लाभ होगा इसलिए इस अपूर्व अवसरको पाकर इद्रियोके विषयोकी आशाको छोड़कर धर्म कार्योंमे यतन कर यदि तेरी यह इच्छा है कि तू जन्ममरणसे रहित मुक्तिके सुखको पालो।

रात उद्यम किया करते हैं कोई शस्त्रविद्याद्वारा सिपाही बनकर कोई लिखनेके कामसे, कोई किसानीको, कोई कारीगरी को कोई व्यापारको, कोई कला चतुराईको ऐसे नानाप्रकारके द्रव्यकी प्राप्तिके उपायोंको करते हुए आकुल व्याकुल रहते हैं। द्रव्यके लिये देश परदेश जाकर बहुत कष्ट उठाते हैं। तौभी उससे क्षणिक सुख प्राप्त होता है जिससे प्राणीको संतोष नहीं होता। तथा संसार का भ्रमण बढ़ता जाता है। इसलिए जो बुद्धिमान अविनाशी आत्मीक सुख प्राप्त करना चाहे उनको उचित है कि जितना परिश्रम वे लौकिकउन्नतिके लियेकरते हैं उतनी मिहनत वे अनन्त सुखके लिए मोक्षमार्गपर चलनेके लिए व आत्मध्यान के लिये करे तो अवश्य उनको ऐसी तृप्ति प्राप्त हो कि वे फिर कभी भी संसारमें दुखी न हों। भवसागरसे पारही होजावे। इसलिये ससारके पदार्थोंको नाशवंत समझकर उनसे मोह न करना चाहिए।

सुभाषित रत्नसंदोहमे अमितगति महाराज कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता ।

सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः ॥

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना-

महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२९॥

भावार्थ—सर्व प्राणियोंके ये रूप,स्थान स्वजन, पुत्र, सामान, स्त्री, कन्या, लक्ष्मी, कीर्ति, चमक, रति, बुद्धि, प्रीति, धैर्य आदि सब ही मदमें अन्ध स्त्रीके नेत्रके समान चंचल हैं तब भी यह बड़े कष्टकी बात है कि यह मानव इन इंद्रियोंके विषयोंके सेवनेका मन किया करता है।

भावार्थ--यहाँ आचार्यने दिखलाया है जो मुनि संयमका भले प्रकार अभ्यास करते हैं वे शुक्लध्यानके प्रतापसे सर्व कर्मबंधनो को नाशकर व शरीरसे रहित होकर मात्र एक अपने आत्मीक सत्ताको स्थिर रखते हुए स्वभावसे ऊपर जाकर तीन लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्रमे अनंतकालके लिये ठहर जाते हैं। वहापर सर्व आत्मा के गुण पवित्र होजाते है और सर्व गुण अपने स्वभावमे सदृश परिणमन किया करते है। वहा न कोई ज्ञानमें बाधा होती है न वीतरागतामें बाधा होती है न वीर्यमें बाधा होती है। इसलिये यह आत्मा परम स्वतत्रतासे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिको भोग करता हुआ अपने आनन्दमे तृप्त रहता है तथा त्रिलोक पूज्य होजाता है। तीन लोकके प्राणी उसकी पूजा करते हैं उसीको परमात्मा, परब्रह्म व परमेश्वर मानते हैं। यहापर आचार्यने दृष्टान्त दिया है कि जो पुरुष परिश्रम करके पर्वतकी चोटीपर चढ जाता है वह स्वयं ही सर्व जगतके प्राणियोंसे ऊंचा होजाता है। उस पुरुषके लिये सारी पृथ्वी नीचे होजाती है। यहाँ यह भी भाव है कि जैसे उद्यमी पुरुष सुमेरु पर्वतपर चढ़नेसे सर्वोच्च होजाता है इसी तरह जो मोक्षमार्गपर चढ़ता चला जता है और गुणस्थानोके क्रमसे उन्नति करता जाता है वह स्वयं ही अपने गुणोकी वृद्धिके कारण औरोसे ऊचा होता है। इसी तरह जब वह चलते २ मुक्त होजाता है तब वह परमात्मा होकर लोकाग्रमे बिराजमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि मान प्राणीको उचित है कि क्षणिक ससारकी संपदाके लिये अपना नर जन्म न खो देवे किंतु इस देहमे संयम पालनके लिये खूब परिश्रम करे तो यह श्रम ऐसा सफल होगा कि इसे परमात्मा बना देगा और अधिक क्या चाहिये ?

श्री पद्मनंदि मुनि यतिभावनाष्टकमे कहते हैं—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुतं पुण्यतो।
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते।
प्रसादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपित.॥५॥

भावार्थ—पुण्यके उदयसे पवित्र कुलमे जन्म पाकर व उत्तम शरीरका लाभकर जो कोई शास्त्रको समझकर व वैराग्यको पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोकमें एक कृतार्थ पुरुष है यदि वह तपस्वी होकर मदको छोड कर ध्यानरूपी अमृतका पान करता रहे तो मानो उसने सुवर्णमई महलके ऊपर मणिमई कलश चढ़ा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मोंको काटकर मोक्षके अधिकारी होते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जो संयम पाले लोकके अग्र जावे।
सुखकृत शुचि गुणका, परिणमन नित्य पावे॥
जो जन श्रम करके मेरू ऊपर सिधारे।
सब ही पृथ्वीको आप ही निम्न डारे॥६७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसारचक्रमे सच्चा सुख नही मिल सकता।

मालिनी वृत्तम्।

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वम्॥

न पुनरिह कदाचिद्धोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥६८॥

अन्वयार्थ—यदि (दिनकरकरजाले) सूर्यकी किरण समूहमें कदाचित् (शैत्यम्) ठंडकपना होजावे तथा (इदो) चन्द्रमाके (उष्णत्त्वं) गर्मी होजावे व (जातु) कदाचित् (सुरशिखरिणि) सुमेरुपर्वतमे (जगमत्वम्) जंगमपना या हलन चलनपना (प्राप्यते) प्राप्त होजावे तो होजावो (पुनः) परन्तु (कदाचित) कभी भी (असुखनिधाने) दुखोकी खान (इह घोर ससारचक्रे) इस भयानक संसारके चक्रमे (भ्राम्यता) भ्रमण करतेहुए (पुंसा) पुरुषको (स्फुटम्) प्रगटपने (शर्म) सुख (न) नही प्राप्त होसकता है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने दिखलाया है कि मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित ही जीव चारो गति मई ससारके चक्करमे नित्य भ्रमण किया करता है। अज्ञानीको ससार ही प्यारा है। वह संसारके भोगोका ही लोलुपी होता है। इसलिये वह गाढ़े कर्मोको बाँधकर कभी दु.ख कभी कुछ साँसारिक सुख उठाया करता है। उसको स्वप्नमे भी आत्मीक सच्चे सुखका लाभ नही होता है। आचार्यने यहातक कह दिया है कि असम्भव बाते यदि होजावे अर्थात् सूर्यकी किरणे गरम होती है वे ठंडी होजावें व चन्द्रमामे ठण्डक होती है सो गर्मी मिलने लगे तथा सुमेरुपर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लग जावे परन्तु मिथ्यादृष्टी जीवको कभी भी आत्म सुख नही मिल सकता है। इसलिये हमे उचित है कि मिथ्यात्वरूपी विषको उगलनेका उद्यम करे और सम्यग्दर्शनको प्राप्त करें। भेद विज्ञानको हासिल करे व आत्माके विचार करनेवाले होजावें इसी ही उपायसे मुक्तिके अनन्त सुखका लाभ होता है। श्री पद्मनदि मुनि परमार्थविशतिमे कहते है—

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यंति सर्वेंगिनः ॥
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो ।
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पुरं ॥१०॥

भावार्थ--इन दुखों रूपी हाथियोसे भरे हुए व हिंसादि पापोंके वृक्षोको रखनेवाले तथा खोटी गतिरूपी भीलोंको पल्लियोंके खोटे मार्गमे नित्य पटकनेवाले संसार वनमे सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वनके बीचमे जो चतुर पुरुष सुगुरुके दिखाए हुए मार्गमे चलना शुरू कर देता है वह परमानन्द माई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाण रूपी नगरमे पहुँच जाता हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

सूर्यकिरण ठंढी उष्ण हो चंद्र बिम्ब ।
यदि सुरगिरि थिर भी हो या अथिर और कम्बं ॥
पर कभी न पावे आत्मसुख मूढ़ जीवा ।
दुखमय भववनमें जो भटकता अतीवा ॥६८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माका स्वभाव शुद्ध है इसका सम्बन्ध ससार वासनाओंसे नही है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

कायै. कर्मबिनिर्मितैर्बहुविधै. स्थूलाणुदीर्घादिभिः ।
नात्मा याति कदाचनापि विकृति संबध्यमान. स्फुटं ॥
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्टयमानोऽपि कि ।
रक्तारक्तसितासितागुणितामापद्यते विग्रहः ॥६९॥

अन्वयार्थ-(कर्मविनिर्मितै.) कर्मोके उदयसे रची हुई (बहुविधै:) नाना प्रकार की (स्थूलाणुदीर्घादिभि)मोटी,पतली, ऊंची, छोटी आदि (कायै:) देहोके द्वारा (स्फुटं सवध्यमान:) प्रगटपने सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृतिं न याति) विकारी नहीं होजाता है अर्थात् अपने स्वभावको नही त्यागता है (कि) क्या (विग्रह) यह शरीर (रक्तारक्तसितासितादिवसनै.) लाल, पीले, सफेद, काले वस्त्रोसे (आवेष्ट्यमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादि-गुणिताम्) लाल, पीले, सफेद, काले रंग पानेको (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ-यहाँ आचार्य यह दिखलाते है कि निश्चयनयसे अर्थात् वास्तवमे यह आत्मा शुद्ध है। इसने अज्ञानसे जो कर्म बाधे हैं उन कर्मोके उदयसे इसके साथ कार्मण, औदारिक और तैजस शरीरोका सम्बन्ध है। ये शरीर भी पुद्गल द्रव्यके रचे हुए हैं। इनमे मोह कर्मके उदयसे रागद्वेष, मोह भाव होते है। तथा नाम कर्मके उदयसे शरीर मोटा, पतला, लबा व छोटा होता है। शरीरके सम्वन्धसे आत्माको दुबला, मोटा, बलवान, निर्बल व क्रोधी, मानी, लोभी आदिके नामसे पुकारते है। असलमे देखो तो आत्मा अपने स्वभावसे असख्यात प्रदेशी ज्ञान-दर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी है। आत्मा पुद्गलके सम्बन्ध होने पर भी आत्मा ही रहता है कभी भी पुद्गलमई नही होजाता है। यहा दृष्टात देते हैं कि जैसे शरीर पर लाल, पीले, नीले, सफेद कैसे भी रगके कपड़े पहनो वे कपड़े शरीरके ऊपर ही ऊपर हैं। शरीर लाल, पीला, काला, सफेद नही होता है। इसी तरह कर्मोके नानाप्रकारके सयोग होनेपर भी आत्मा

वास्तवमें किसी भी कर्मकृत विकारोसे विकारी नही होजाता है। निश्चयसे आत्मा शुद्ध स्वभावमे ही रहनेवाला है ऐसा विचारवानको विचारना चाहिए।

ऐसा ही श्री पद्मनदिमुनिने एकत्वाशीतिमे कहा है—

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं मह ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥३५॥
नाम हि पर तस्मान्निश्चयात्तदनात्मकम् ।
जन्ममृत्यादि चाशेषं वपुधर्मं विदुर्बुधा ॥

भावार्थ—जैसे विकारी होनेवाले मेघोसे आकाशका स्वभाव विकारी नही होता है वैसे क्रोधादिक कर्मोका सयोग होनेपर भी उत्कृष्ट तेजवाला आत्मा भी क्रोधी मानी आदि रूप नही होता। इस आत्माके स्वभावसे तो नाम भी भिन्न हैं क्योकि चैतन्यप्रभुका कोई नाम नही है। जन्म मरण रोग आदि ये सर्व स्वभाव शरीरके हैं ऐसा ज्ञानीलोग मानते है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मोटे सूक्षम दीर्घ देह वहुविध हैं कर्मने जो रचे ।
इनमे वसता आत्म हो न उनसा निजभाव आतम नचे ॥
काला पीला लाल श्वेत कपड़ा, जो देहको ढाकता ।
काला पीला लाल श्वेत तनको, कवहू न कर डालता ॥६९॥

उत्थानिका—आचार्य और भी आत्माका स्वरूप कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढ. परिवृढ स्थूल. कृश कर्कश ।
गीर्वाणो मनुज. पशुर्नरकभूः पढ. पुमानंगना ॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममल सर्वव्यापायच्युतम् ॥७०॥

अन्वयार्थ-(त्वं) तू (आत्मानः) आत्माके (नित्यं) अविनाशी (अमल) निर्मल (सर्वव्यपाच्युत्तम्) सर्व संसारिक दु:ख जालों से रहित (ज्ञानमयस्वभावं) ज्ञानमई स्वभावको (विबुध्य) जान करके भी (मूढ़ः) मूर्ख होकर (इदं) इस (मिथ्या) झूठी (कल्पनम्) कल्पनाको (विदधासि) किया करता है कि मैं (गौरः) गोरा हूँ (रूपधरः) मैं सुन्दर हूँ (दृढ) मैं मजबूत हूँ (परिवृढ़ः) मैं श्रीमान् हूँ (स्थूल.) मैं मोटा हूँ (कृशः) मैं दुर्बल हूँ (कर्कश.) मैं कठोर हूँ (गीर्बाणः) मैं देव हूँ (मनुजः) मैं मनुष्य हूँ (पशु.) मैं पशु हूँ (नरकभूः) मैं नारकी हूँ (षढ.) मैं नपुंसक हूँ (पुमान्) मैं पुरुष हूँ (अंगना) तथा मैं स्त्री हूँ।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखलाया है कि आत्माका स्वभाव अविनाशी है जब शरीरादि पदार्थ नाशवंत है, आत्मा ज्ञानमई है जब शरीरादि जड़ हैं, आत्मा निर्मल वीतराग है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप जड़ है, आत्मा सर्व आकुलता व दु:खोसे रहित परमानन्दमई है जब कि शरीरादि व क्रोधादि सबंध जीवको आकुलित व दु.खी करनेवाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टी होता हुआ मिथ्याश्रद्धानके नशेमे अपनेको नाना भेषरूप मान्ता करता है। जो अवस्थाएँ कर्मके निमित्तसे हुई हैं उनको ही अपना माना करता है अपने आत्माके असली स्वभावसे गिर जाता है। देव, मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, गोरा, सुन्दर, बलिष्ट मोटा, दुवला, कठोर, आदि सब पुद्गलकी अवस्थाएँ हैं। जिस घरमे आत्मा रहता है उस घरकी अवस्थाएँ है। तौभी मोही जीव अपनेको उन रूप मान लेता है उसे आत्मज्ञानका श्रद्धान नहो है।

तात्पर्य कहने का यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छांट ले और जो अनात्मा है उनको अलग करदे। इसी प्रकारके विचारसे स्वानुभवकी प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव मोक्षका वीज है।

पद्मनंदि मुनि एकत्वाशीतिमें कहते हैं—

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
नावकाशो विकल्पानां तत्राखंडैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयसे देखा जावे तो यह आत्मा एक ही चैतन्यरूप है तथा इस अखंड पदार्थमें अनेक दूसरे विकल्पोंके उठानेकी जगह ही नहीं है कि मैं देव हूं या नारकी हूं। इत्यादि।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

गोरासुन्दर वीर और श्रीमान हूं धन पतला कहा।
हूं पशु नारक देव और मानव नारी पुरुष षंढ वा॥
मूरख मिथ्या कल्पना जु करता निज आत्म नहिं वेदता।
जो है नित्य पवित्र ज्ञानरूपी जड़ रूपसे शून्यता॥५०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुमुक्षु जीवोंको निरंतर ही परमात्माका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये—

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोन्नतम्।
तद्रूपं परमात्मनो विगलितं शान्तं स्वयं शांतिद॥
तन्निःश्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा तापकम्।
कृत्यं क्वापि चिकीर्षवो न सुधिय कुर्वन्ति तद्बन्धनं॥५१॥

अन्वयार्थ—(सर्वारम्भकषायसंगरहितं) सर्व प्रकार

क्रोधादि कषाय, तथा परिग्रहसे रहित है (शुद्धोपयोगोद्यतम) जो शुद्ध ज्ञानदर्शनमई उपयोग से पूर्ण है (विकलिलं) जो सर्व कर्ममैलसे रहित है (वाह्यव्यपेक्षातिग) जिसको किसी भी वाहरी पदार्थकी अपेक्षा या गरज नहीं है (तत्) वही (परमात्मनः) इस उत्कृष्ट आत्माका (रूपं) स्वभाव है। (तत) इसी स्वरूपको (निःश्रेयस-कारणाय) मोक्ष प्राप्तिके लिये (हृदये) मनमें (सदा) हमेशा (कार्यं) ध्याना चाहिय (न अपरां) इसके सिवाय अन्य किसी स्वभावको न ध्याना चाहिये। (कृत्यं) करने योग्य कामको (चिकीर्षवः) पूरा करनेकी इच्छा करनेवाले (सुधियः) बुद्धिमान लोग (तद्ध्वंसकं) उद्देश्यके नाश करनेवाले कार्यको (क्व अपि) कही भी व कभी भी (न कुर्वंति) नही करते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखाया है कि जो भव्य जीव अपने आत्माको स्वाधीन करना चाहते हैं उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने ही आत्माको परमात्माके समान जाने, श्रद्धामें लावे तथा अनुभव करें। आत्माका स्वभाव किसी शुभ व अशुभ आरंभ करनेका नही है। जितने भी काम होते हैं वे इस जगतमें मन, वचन कायके हिलनेसे होते हैं। आत्माके जव मन वचन काय ही नही हैं तव उनके द्वारा वर्तना या आरंभ किस तरह होसक्ते हैं। इस आत्मामें क्रोधादि कषायकी कलुषता भी नही है क्योकि यह चारित्र मोहनीय कर्मका रस है, जैसे नीमका स्वाद कड़वा, ईखका स्वाद मीठा। यह आत्मा सर्व पर पदार्थों के संगसे शून्य है। इसके पास न किसी शरीर का परिग्रह है, न धनधान्यका है न क्षेत्र मकान है न रुपये पैसेका है न स्त्री पुत्रादिका है। यह आत्मा सर्व प्रकारके पौद्गलिक मैलसे शून्य है यह अमूर्तीक है। इसके गुण इसके

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

परमात्मा है सर्व मैल दूर नहिं चाह परकी करे।
शुद्धपयोगमई कषाय रहितं नारंभ परिग्रह धरै॥
सो ही शिवके हेतु नित्य चितमें ध्याओ नही और कुछ।
बुधजन निज उद्देश्य घातकारक करते नही कार्य कुछ॥७१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरसे प्रीति करना है सो आत्माकी उन्नतिसे बाहर रहना है।

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्ति विधत्ते यतो।
हेयादेयविचारशून्य हृदयो नात्मक्रियायामसौ॥
स्वार्थं लब्धुमना विमुंचतु तत: शश्वच्छरीरादरम्।
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकाम. सुधी.॥७२॥

अन्वयार्थ—(यत.) क्योकि (य.) जो कोई (शरीरकार्यकरणे) शरीरके कामके करनेमे (जागर्ति) जाग रहा है (असौ) वह (हेयादेयविचारशून्यहृदय.) त्यागनेयोग्य व करने योग्यके विचारसे शून्य मनवाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्) आत्मा के कार्यमे (वृत्ति न विधत्ते) अपना वर्तन नही रखता है। (तत.) इसीलिये (स्वार्थं लब्धुमना) अपने आत्माके प्रयोजनको जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत्) सदा ही (शरीरादरम्) शरीरका मोह (विमुंचतु) छोड देना चाहिए (निष्पत्तिकाम) अपनी इच्छाको पूर्ण करनेवाला (सुधी:) बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने कामके (प्रतिबंधके) रोकने वाले कार्यमे (न यतते) उद्यम नही करता है।

भावार्थ-यहा आचार्य कहते है कि शरीर और आत्मा दो भिन्न२ पदार्थ है। जिसको शरीरका मोह है वह रातदिन शरीरकी शोभा

जिसको संसार के दुखोंसे भय नही है तथा जिसके चित्तमें शरीर के सुखसे वैराग्य नही भया है उसकी दीक्षा भी इस जगतमे भोगोके लिये हैं मुक्ति पानेके लिए नही है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो जागे निज तन विलासपथमे सो मूर्ख जाने नही।
क्या हितकर क्या नाशकर सुकर्तव निजआत्म करता नही॥
जो चाहे परमात्म धाम अपना तन मोह करता नही॥
बुध निजकारज सिद्धकाज उल्टा कब ही जु चलता नही।७२।

उत्थानिका—आगे कहते है कि बुद्धिमानको व्यर्थ कार्य न करना चाहिये।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम्॥७३॥

अन्वयार्थ—(गतघृणः) दया रहित (अंतकः) यमराज (भीतं) जो मरणसे डरता है उसको (न मुंचति) छोड़ता नही है (ततः) इसलिये (वृथा) बेमतलब (मा भैषीः) डर न कर (अभिलाषितं) अपना चाहा हुआ (सौख्यं) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नही प्राप्त होता है इसलिये (त्वं) तू (इदं) इस सुखकी (मा अभिलाषीः) इच्छा न कर (विगतं) जो मर गया नष्ट होगया (शोचितं) उसका शोच करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौटकर नही आता है इसलिए (वृथा) बेमतलब (शोकं मा कृथाः) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्यं) काम (कथम्) किसलिये (विदधते) करेंगे?

सज्जनपुरुष सदा उत्तम फलदायी कार्योको ही करते हैं। जैसा अमितगतिमहाराजने सुभाषित रत्नसदोहमे कहा है—

चित्ताल्हादिव्यसनविमुखः शोकतापापनोदि ।
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि ॥
तथ्यं पथ्य व्यपगतमलं सार्थकं मुक्तबाध ।
यो निर्दोषं रचयति वचस्त बुधा. सन्तमाहुः ॥४६१॥

भावार्थ—जो कोई बुरी आदतोसे अलग रहता हुआ ऐसा वचन कहता है जो चित्तको प्रसन्न करनेवाला हो, शोक संताप को हटानेवाला हो, बुद्धिसे उत्पन्न हुआ हो, कानोको प्रिय मालूम हो, न्यायमार्गपर लेजाने वाला हो, सत्य हो, हजम होने योग्य हो, दोष रहित हो, अर्थसे भरा हो व बाधाकारक न हो उसीको बुद्धिमानोने सन्तपुरुष कहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

निर्दय यम भयमति जन्तु मारे इससे जु डरना वृथा ।
इच्छित सुखन प्राप्त होय कब ही अभिलाष करना वृथा ॥
मृतगत शोच किये न लौट आता है शोक करना वृथा ।
विद्वजन सुविचार कार्य निष्फल करते नही सर्वथा ॥७३॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते है कि आत्मीक सुखके लिये प्रयत्न कर,संसारिक सुखके लिये वृथा क्यो इच्छाकरता है।

स्वस्थेऽकर्मणि शाश्वते विकलिले विद्वज्जनप्रार्थिते ।
सप्राप्ये रहसात्मना स्थिरधिया त्वं विद्यमाने सति ॥
बाह्यं सौख्यमवाप्तुमंतविरस कि खिन्नसे नश्वरम् ।
रे सिद्धे शिवमंदिरे सति चरौ मा मूढ भिक्षां भ्रम.।७४।

लाभके लिये अपने आत्माके भीतर प्रवेश नहीं करते हैं तथा बाहरी इद्रियजनित नीरस और अतृप्तिकारी सुखकी प्राप्तिके लिये चेष्टा किया करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते है, क्योकि यदि परिश्रम करनेसे कदाचित् इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भा होजावे तौभी उससे तृप्ति नही होती तथा वह ठहरता नही है, वह शीघ्र नाश होजाता है। जिस किसीको अपने स्थानमे ही मनमोहन खाने को मिले और वह उसको तो न खावे किन्तु भीख मांगता फिरे उसे भीखमें तो पूरा भोजन भी मिलना कठिन होगा और वह वृथाही खेद सहेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीवको अपने ही भीतर भरे हुए सुखसमुद्रकी खोज करके उसमें ही स्नान करना चाहिये व उसीके जलको पीना चाहिये। उसीसे ही तृप्ति होगी और वही सदा पीनेमे भी आयगा उसे जलका कभी वियोग नही होगा क्योकि वह सुखसमुद्र अपने ही पास है और अपनेको अपनेसे मिल जाता है। इसलिये इद्रियोके सुखकी वांछा छोड आत्मिक सुखके लिये अपने आपमे रहना ही हितकर है ।

श्री शुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१२॥
अध्यात्मजं यदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम् ।
आत्माधीनं निरावाधमनन्तं योगिना मतम् ॥२३॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोने कहा है कि जो सुख इद्रियोसे पैदा होता है वह तृप्त करनेवाला नही हैतथा वह सुख मोहरूपी दावानलको बढानेके लिये महा ईंधनके समान है तथा दुःखोंकी परिपाटीका बीज है, जबकि अध्यात्मिक सुख इंद्रियोकी पराधीनतासे रहित

अविनाशी, पवित्र सुख तो चाहेपरन्तु उसके लिये अपने आत्मामें ध्यान करना छोड़कर धनपरिवार परिग्रहकोसचय करे और इन चंचल वस्तुओंको थिर रखना चाहे और यह भी चाहे कि थिर सुख मिल जावे। यह ऐसी ही मूर्खताकी वात है कि जैसे कोई प्रलयकालकी पवनसे उद्धत समुद्रको उसकी न निश्चल रहनेवाली तरंगोको स्थिर करके उसे पार करना चाहे। थिर पवित्र सुख कभी भी इद्रियोके भोगोसे प्राप्त नही होसकता इंद्रियभोगसे जो कुछ सुख होगा वह मात्र क्षणिक होगा व तृप्तिकारी न होगा तथा मैला होगा। क्योकि जिस धन परिवार व परिग्रहके आश्रयसे यह इंद्रियसुख होता है वे सब पदार्थ चचल है व नाशवंत हैं इसलिये इंद्रियसुख भी चंचल व नाशवत है। तृप्तिकारी अविनाशी सुख तो मात्र अपने आत्माके स्वभावमे है, वह तब ही प्राप्त होगा जब जगतके पदार्थोंसे मोह छोडके निज आत्मा का अनुभव किया जायगा। इन्द्रियोंको भोगते हुए कभी भी थिर व पवित्र सुख नही मिल सकता है, वह तो आत्मसन्मुख होने ही पर मिलेगा। तात्पर्य यह है कि सच्चे सुखके लिये अपने आपमें ही खोज करना चाहिये। ऐसा ही श्री शुभचन्द्रमुनिने श्री ज्ञानार्णवमे कहा है—

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम्।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम्॥२४॥

भावार्थ—इन्द्रियोके ग्रामोको रोककर जो सुख स्वयम् (आत्मामे ही आत्माके ही द्वारा योगियोको प्राप्त होता है वही आत्मीक सुख है। इन्द्रियोका सुख तृष्णाके दु:खोंको बढ़ानेवाला है जैसा वही कहा है—

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥३०॥

भावार्थ—जैसे२ इच्छित भोग मिलते जाते है वैसे वैसे मनुष्योंके चित्तकी तृष्णा जगतमें फैलती जाती है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

शुचि थिर सुख पाऊं चाह ऐसा करे है ।
धन सुत तिय पृथ्वी भोगमे मति धरे है ॥
मानूं मूरख सो उदधिका पार चाहे ।
प्रलय समय लहरं थिर करूं बुद्धि गाहे ॥७५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष इंद्रियविषयों से दूर रहते हैं-

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

ये दुःखं वितरन्ति घोरमनिशं लोकद्वये पोषिताः ।
दुर्वारा विषयारयो विकरुणाः सर्वांगशर्माश्रया. ॥
प्रोच्यते शिवकांक्षिभि. कथममी जन्मावलीवर्द्धिनो ।
दुःखोद्रेकविवर्धनं न सुधियः कुर्वन्ति शर्मार्थिन. ॥७६॥

अन्वयार्थ-(ये) जब ये (दुर्वारा) कठिनतासे दूर होने योग्य (विकरुणा) और निर्दयी (विषयरय.) इंद्रिय विषयरूपी शत्रु (पोपिता.) पुष्ट किये जानेपर (लोकद्वये) इस लोक व परलोक दोनोंमे (अनिशं) रात्रदिन (घोरं दुःखं) भयानक कष्टोंको (वितरंति) विस्तारते हैं तव (शिवकांक्षिभि.) मोक्षके आनदको चाहनेवाले (कथं) किस तरह (जन्मावलीवर्द्धिन.) संसारकी परिपाटीको वढ़ाने वाले (अमी) इन विषयरूपी शत्रुओंको (सर्वांगशर्माश्रया.) सर्व प्रकार शरीरको सुख

देनेवाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सक्ते हैं। (शर्मार्थिनः) जो सुखके अर्थी है वे (सुधियः) बुद्धिमान प्राणी (दुःखोद्रेकविवर्धन) दुखके वेगको बढानेवाले कार्यको (न कुर्वन्ति) नहीं करते है।

भावार्थ--आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियोके भोगोकी चाहनाएं इस जीवके लिए महान शत्रुताका काम करती हैं। ये चाहनाए ऐसी प्रबल होती है कि इनको दूर करना कठिन होता है। तथा इनको जरा भी दया नही होती है, इनके कारण रात्रिदिन इस लोकमे भी आकुलता व शोक आदिके दुःख सहने पड़ते हैं। व तीव्र कर्म बाँधकर परलोकमे दुर्गति के कष्ट भोगने पडते हैं। जो इनको पुष्ट करते है उनको अधिकर दुःख देती है। ये विषयरूपी शत्रु वास्तवमे इस जीवकी जन्म मरणरूपो परिपाटीको बढानेवाले है तब मोक्षके आनन्दको चाहनेवाले इन इंद्रियोके विषयोको किस तरह ऐसा कह सकते है कि ये सर्व प्राणियोको सुखके देनेवाले हैं?। इनको सुखदायी कहना नितान्त भूल है। जिनसे उभयलोक कष्ट मिले उनको कोई भी बुद्धिमान सुखदायी नही मान सक्ता है। इसीलिए जो सुखके अर्थी बुद्धिमान है वे कभी भी ऐसा काम नही करते जिससे उल्टा दुःख बढ जावे। अर्थात् वे इन इंद्रिय विषयोको बिल्कुल मुंह नही लगाते हैं। किन्तु इनसे विरक्त हो आत्मसुखके लिए आत्मानुभवका ही प्रयत्न करते हैं।

सुभाषित रत्नसंदोहमे स्वामी अमितगति कहते हैं--

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं।
किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके॥
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा।
पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजंति॥ ६८॥

भावार्थ—ये पाँचो इन्द्रियोके सुख भोगते समय तो सुन्दर भासते हैं परन्तु ये अतृप्तिके ही बढ़ाने वाले हैं। जैसे इन्द्रायण का फल खाते समय मीठा हाता है परन्तु उसका फल प्राणो का हरनेवाला है। ये इन्द्रियसुख नित्य नही रहते तथा अनेक दोषोंको पैदा करने वाले है ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग इन इन्द्रियोके सुखोकी इच्छाको ही छोड़ देते है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।।

जो नित दुस्सह दु ख लोकद्वयमे पोषण किये देत हैं।
निर्दय है दुर्वार अरि विषय ये मनवृद्धि कर देत है ।।
शिव सुख इच्छुक किस तरहसे कहे सर्वाङ्ग सुखदाय ये .
सुखअर्थी बुधजन न कार्य करते जो कष्ट देते नये ।।७६।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि निर्मल भावोका और मलीन भावो का क्या क्या फल होता है—

कुर्वाण. परिणाममेति विमलं स्वर्गापवर्गश्रियं ।
प्राणी कश्मलमुग्रदु खजनिकाँ श्वभ्रादिरीति यत ।।
गृह्णाना. परिणाममाद्यमपरं मु चंति सन्तस्तत: ।
कुर्वन्तीह कुत कदाचिदहितं हित्वा हित धीधना: ।।७७।।

अन्वयार्थ-(यत) क्योकि (प्राणी) यह प्राणी (विमलं परिणाम) निर्मल भावको (कुर्वाणा.) करता हुआ (स्वर्गापवर्गश्रियं) स्वर्ग व मोक्षकी लक्ष्मीको (एति) प्राप्त कर लेता है तथा (कश्मलं) मलीन भावको करता हुआ (उग्रदुखजनिकां) भयानक दुखोको पैदा करनेवाली (श्वभ्रादिरीतिं) नर्क आदि की अवस्थाको पाता है (तत.) इसलिए (सन्त:) सन्तजन (आद्यं) पहले (परिणाम) भावको (गृह्णाना:) ग्रहण करते हुए(अपरं)दूसरे अशुभ भावो को(मुंचति)त्याग देते हैं(इह)इस

लोकमें (धीधना.) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हित को छोडकर (कुत) किस तरह (कदाचित्) कभी भी (अहित) दु.खदाई कामको (कुर्वन्ति) करेंगे ?

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि यह जीव अपने भावों से ही अपना कल्याण कर लेता है तथा भावोसे ही अपना विगाड कर लेता है। जैसे भाव होते हैं वैसा कार्य होता है। शुद्ध भावोसे कर्मोकी निर्जरा होकर मोक्ष होजाता है तथा शुभ भावोसे पुण्यबंध होकर स्वर्गादिक शुभ गति प्राप्त होती है तथा अशुभ भावोसे पाप बंधता है जिससे नरक आदिकी खोटी गति प्राप्त होती है ऐसा जानकर सन्त पुरुष सदा ही शुद्ध भावोमे रहनेका उद्यम करते हैं। जव शुद्ध भावोमे परिणाम नही ठहरता है तव शुभ भावोमे जम जाते है परन्तु वे अशुभ मलीन भावोको कभी नही ग्रहण करते है। उनको तो दूरसे ही त्यागते हैं। बुद्धिमान मानव वे ही है जो अपने हित अहित का विचार करे। जिन कार्योसे अपना बुरा होता जाने उनको तो छोड दे व जिनसे अपना भला होता जाने उनको साधन करें। तात्पर्य यह है कि सुख शांतिकी प्राप्ति अपने आत्मानुभवसे ही होगी इसलिए विषयो की खोटी वासनाको त्यागकर बुद्धिमानको सदा आत्ममननमे ही उद्योगी रहना योग्य है।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र मुनि कहते हैं—

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्क. स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चरित्र दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

(अनवद्य) निर्दोष (शिवपदम्) मोक्षपदको (याति)प्राप्त करता है (इति) ऐसा समझकर (शिवपदकामः) जो मोक्षकी इच्छा रखते है उनको (ते विशुद्धा.) उन विशुद्ध भावोको (विधेया.) करना योग्य है ।

भावार्थ—संसारी जीवोके भाव तीन प्रकारके होते हैं एक शुद्ध, एक शुभ, एक अशुभ । जहा वीतरागभाव, समताभाव व शुद्ध आत्माकी तरफ सन्मुख भाव होता है वहां शुद्ध भाव होता है । यह भाव रागद्वेषके मैलसे शून्य होता है इसलिये कर्मोकी निर्जराका कारण है इसलिये वही वास्तवमे मोक्ष मार्ग है । यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्रकी एकता होती है । मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये यही भाव ग्रहण करने योग्य है । अशुद्ध भाव वे कहलाते हैं जहा कषायोका उदय होकर कषाय-सहित भाव हो । कषायसहित भाव आत्मस्थ नही होते किन्तु परपदार्थके सम्मुख होते हैं । इनही अशुद्ध भावोके दो भेद हैं एक शुभ दूसरे अशुभ । जहां कषायमंद होती है व भावोमे प्रशमता, धर्मानुराग, भक्ति, सेवाधर्म, दयाभाव, परोपकार, सन्तोष शील, सत्य वचनमें प्रेम, स्वार्थत्याग आदि मंद कषायरूप भाव होते हैं उनको शुभ भाव कहते हैं । इन शुभ भावोसे मुख्यतासे पुण्यकर्मोका बंध होता है। जहां कषाय तीव्र होती है वहां भावोमे दुष्टभाव, अपकारके भाव, हिंसकभाव, असत्यपना, चोरीपना, कुशीलपना, असन्तोष, इंद्रियविषयकी लम्पटता, मायाचार, अति लोभ, व्यसनोमे लीनता, परनिन्दामें प्रसन्नता आदि भाव होते है उनको अशुभ भाव कहते हैं । इनसे पापकर्मों का ही बंध होता है । अशुभ भावोके फलसे नरक व पशुगतिमें जाता है, शुभ भावोसे मनुष्य व देवगतिमें जाता है । ये दोनो ही भाव जीवको संसारचक्रमे फंसानेवाले हैं, मोक्षके कारण नही

अन्वयार्थ—(श्वभ्राणा)नरकगतिवासी प्राणियोको (अविसह्यम्) न सहने योग्य (दुर्जल्पम्) वचनोसे न कहने योग्य (अन्योन्यजम्) परस्पर किया हुआ (अंतरहितं) अनतवार (पर दुख) उत्कृष्ट दुःख होता है (तिरश्चा) पशु गतिमे रहनेवाले प्राणियोको (दाहच्छेदविभेदनादिजनितम्) अग्निमे डालनेका छेदे जानेका, भेदे जानेका, भूख, प्यास आदिके द्वारा होनेवाला कष्ट होता है। (नृणा) मानवोको (रोगवियोगजन्ममरण) रोग, वियोग तथा जन्म मरण आदिका दु.ख रहा करता है (स्वर्गौकसां) स्वर्गवासी देवोंको (मानस) मन संबंधी बाधा रहती है (इति) इस प्रकार (विश्वं) इस गतिको (कष्टकलित) दुःखोसे भरा हुआ (सदा) हमेशा (वीक्ष्य) देखकर (मुक्तये) मुक्त होनेके लिये (मतिः) अपनी बुद्धि (कार्या) करनी योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकसे आचार्यने दिखला दिया है कि चारों ही गतियोमे इस जीवको कही सतोष व सुख शाति नही मिलती है। सर्व हीमे शारीरिक व मानसिक दुःख कर्म व अधिक पाये जाते हैं। हम यदि नरकगतिको लेवें तो जिनवाणी बताती है कि वहाँके कष्ट अपार है। भूमि दुर्गंधमय, हवा शरीर भेदनेवाली, वृक्षोके पत्तो तलवारकी धारके समान, पानी खारा, शरीर रोगों से भरा व भयानक, परस्पर एक दूसरेको मारते, सताते व दुखी करते है वहाँके प्राणियोकी कभी भूख, प्यास मिटती नही। क्रोधकी अग्निमे जलते रहते हैं, दीर्घकाल रोरोकर बड़े भारी कष्टसे अपने दिन पूरे करते हैं। पशु गतिके दुख तो हमारी आँखोके सामने ही है। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक प्राणियोके कष्टोका

पार नहीं है। मानवोके आरम्भ द्वारा उनको सदा ही कष्ट मिला ही करता है। दवके, कुटके, जलके, उवलके, धक्कोसे, बुझाए जानेसे, रौंदे जानेसे, काटे, छीले जानेसे आदि अनेक तरहसे ये कष्ट पाते हैं। द्वेन्द्रियादि कीड़े मकोड़े, चीटी, चीटे मक्खी, पतग, भुनगे आदि मानवोके नाना प्रकारके आरम्भोंके द्वारा दवके, छिलके, मिदके, जलके, गर्मी, शरदी, वर्षा, भूख, प्यास आदिकी बाधासे व सवल पशुओसे नाश होकर घोर त्रास उठाते हैं। पचेन्द्रिय पशु पक्षी, मच्छादि मानवोके द्वारा सताए जाने, मारे जाने, सवल पशुओसे खाये जाने, अधिक वोझा लादे जाने, भूख, प्यास, गर्मी,शरदी, आदिके दु खोंसे पीडित रहते हैं।

मानवोंकी अवस्था यह है कि बहुतसे तो पेट भर अन्न नहीं पाते, अनेक रोगोसे पीडित रहते हैं, पर्याप्त धनके विना आतुर रहते हैं, इष्टवियोग व अनिष्ट सयोगसे कष्ट पाते हैं। इच्छित पदार्थके न मिलनेसे अधिक सम्पत्तिवान देखकर ईर्षा करते हैं, दूसरोको हानि पहुँचानेके लिए अनेक षडयंत्र रचते हैं, जव पकड़े जाते हैं कारावासके घोर दु.ख सहते हैं। बहतोको पराधीन रहनेका घोर कष्ट होता है, वड़े २ सकटोके उठानेपार आजीविका लगती है। धन परिश्रमसे संचय हुआ जव किसी आकस्मातसे जाता रहता है तो वडा भारी कष्ट होता है। अपने जीते जी प्रिय स्त्री, प्रिय पुत्र, प्रिय मित्र आदिका मरण शोक सागरमें पटक देता है। मानवोका शरीर तो पुराना पडता जाता है। इंद्रियें दुवली होती जाती हैं परन्तु पांचो इंद्रियोंके भोगोंकी तृष्णा दिनपर दिन वढती जाती है। तृष्णाकी पूर्ति न कर सकनेके कारण यह मानव महान आतुर रहता है। यकायक मरण आजाता हैं। तव वड़े कष्टसे मरता है।

चक्रवर्ती सम्राट् भी जो इद्रियभोगोके दास होते हुए आत्मज्ञान रहित होते हैं। वे भी जिन्दगीभर चिन्ता और आकुलता मे ही काटते हैं अन्य साधारण मानवोकी तो बात ही क्या है ? जिन२ परपदार्थोके संयोगसे यह मानव सुख मानता है वे पदार्थ इसके आधीन नही रहते उनका परिणमर अन्य प्रकार होजाता है व उनका यकायक वियोग होजाता है। बस यह मानव उनके वियोगसे महान दुखित होता है। देवगतिमे यद्यपि शारीरिक कष्ट नही है क्योकि वहा शरीर वैक्रियक होता है जिसमे हाड़ चमड़ा, मॉस, नही होता है उनको मानवोके समान खाने पीने की जरूरत नही होती है जब कभी भूख लगती है तव कंठमे अमृत झड़ जाता है, तुर्त भूख मिट जाती है। रोग शरीरमें नही होते, कोई खेती व व्यापार करना नही पड़ता। शरीरके लिए किसी वस्तुकी चाह करनी नही पड़ती मनोरञ्जन करनेवाली देवियां होती हैं जो अपने हावभाव, विलास, गान आदिसे मनको प्रसन्न करती रहती हैं। तथापि मानसिक कष्ट सब जगहसे अधिक होता है जो आत्मज्ञानी देव हैं उनको छोडकर जो अज्ञानी देव हैं वे एक दूसरेको अपनेसे अधिक सम्पत्तिवाला देखकर मनमे ईर्षाभाव रखते हैं सदा जलते रहते है। भोगनेके लिए पदार्थ अनेक चाहते है उनके भोगनेकी आकुलतासे आतुर रहते हैं। देवीकी आयु कम होती है देवकी आयु वड़ी होती है, बस जव कोई देवी मर जाती है तो उसके वियोगका दु.ख सहते हैं, अपना शरीर छूटने लगता है तव बहुत विलाप करते हैं कि ये भोग छूटे जाते है क्या करे।

इस कारण देव भी मानसिक कष्टसे पीडित हैं। जब चारों ही गतिमें दुख है तब सुख कहां है तो आचार्य कहते है कि सुख अपने आत्मामें है। जो अपने आत्माको समझते है और उसकी शुद्ध स्वाधीन अवस्था व मोक्षके प्रेमी होकर आत्माके अनुभव मे मग्न होते हैं उनको सच्चा सुख होता है। ऐसे महात्मा चाहे जिस गतिमें हो सुखी रहते हैं। परन्तु ये सब महात्मा ससारी नही रहते है, वे सब मोक्षमार्गी होजाते है। उनका लक्ष्यबिंदु मोक्ष होता है। वे आत्मध्यान करते हुए शुद्ध भावोका लाभ पाते है जिससे कर्म झरते जाते है और येही शुद्ध भाव उन्नति करते करते मोक्षके भावमे होजाते हैं। इसलिये आचार्यका उप देश है कि आत्मीक शुद्ध भावोकी पहचान करो जिससे यहां भी सच्चा सुख पाओगे व आगामी भी सुखी होगे।

श्री अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसदोहमे कहते हैं—

त्यजतु युवतिसौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्व,
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम्।
जहित विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्व,
अमितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम् ॥१९॥

भावार्थ—स्त्रियोके सुखको छोड़ो क्षमाभाव सहित शातिमय सुखका आश्रय करो, ससारके भोगोसे विरक्त हो मोक्षके मार्गमें रमण करो, इद्रियोके विषयोका संग छोड़ो आत्मज्ञानकी संगति करो जिससे तुमनित्य अनन्तज्ञानके नवममोक्षको प्राप्त करसको—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

आपसमे ये जीव नर्क भूके दु:सह महादुख सहें,
पशुगतिमें हो दाह छिदभिदमरे दिनरात पीडित रहें।

नरगतिमे हो रोग इष्टविछुडन सुर मन जनित दुखलहै,
बुधचहुँगनि दुखजान बुद्धि अपनी शिवहेतुकर अघ दहे ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके क्षणभंगुर पदार्थोंके लिये प्रयत्न करना वृथा है ।

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं ।
कार्यं रूपमिव क्षणेन सलिले साँसारिकं सर्वथा ॥
यत्तत्रापि विधीयते बत कुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया ।
कृत्ये क्वापि हि केवलश्रमकरे न व्याप्रियते बुधाः ।८०।

अन्वयार्थ—(सलिल) पानीमें (रूप इव) मट्टीकी पुतलीके समान (दुष्करं) कठिन (श्रमं) परिश्रम (कृत्वा) करके (यत्नत. अपि रचितं) यत्नसे भी बनाया गया (सर्वं) सब (सांसारिक कार्यं) संसारका काम (क्षणेन) क्षणभरमे (सर्वथा नश्यति) बिकुल नाश होजाता है । (यत.) जब ऐसा है तब (मूढ़) हे मूर्ख (त्वया) तेरे द्वारा (तत्रापि) उसी ससारी कार्यमेही (वत) बड़े खेदकी बात है (कुत·) क्यो (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (विधीयते) की जाती है ? (बुधा.) बुद्धिमान प्राणी (केवलश्रमकरे) खाली बेमतलब परिश्रम करानेवाले (कृत्ये) कार्यमें (क्वापि) कभी भी (हि) निश्चय करके (न व्याप्रियन्ते) व्यापार नही करते हैं ।

भावार्थ—जैसे मिट्टीकी मूर्ति पानीमे रखनेसे गल जाती है वैसे संसारके जितने काम है वे सब क्षणभंगुर हैं । जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होनेवाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहनेका क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगतका यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नही होते न नवी पैदा होते है परन्तु

उन द्रव्योकी जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती है। अवस्थाए कभी भी थिर नही रह सकती हैं। हमसबको अवस्थाए ही दीखती हैं तब ही यह रातदिन जाननेमें आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पडा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोडोकी सम्पत्ति क्षणभर मे नष्ट होजाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभरमे कालके गाल मे समा जाता है,यौवन देखते२ विलय होजाता है, बल जरासी देरमे जाता रहता है। ससारके सर्व ही कार्य थिर नही रह सकते हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यो के लिए उद्यम नही करता है। वह इन्द्रपद व चक्रवर्तीपद भी नही चाहता है क्योकि ये पद भी नाश होनेवाले है। इसलिए वह तो ऐसे कार्यको सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभावका लाभ है। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र होजाता है फिर कभी मलीन नही हो सकता और तब यह अनन्तकालके लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमे परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देनेवाले ही कार्यो का उद्यम करते हैं। इसलिए सुखके अर्थी जीवको आत्मानन्दके लाभका ही यत्न करना उचित है।

सुभाषितरत्नसंदोहमे अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि॥

कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे ।
पर्यालोच्येति जीव: स्वहितमवितथं मुक्ति मार्गं श्रय त्वम् ।४१६।

भावार्थ—मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी सुख-मई, दुःखोंका नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री, संसारीक सुख आदि मेरेसे अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है क्योकि यह सब कर्मोके द्वारा उत्पन्न हैं, चंचल हैं, क्लेशकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थोमें मोह करना वृथा है। ऐसा बिचार कर हे जीव! तू अपंने हितकारी इस सच्चे मुक्तिके मार्गका आश्रय ग्रहण कर।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

संसारिक जो काम यत्न करके करता बहुत श्रम लिये।
सो सब क्षणमें नाश होत जैसे मृत्पिड जलमें दिये॥
फिर क्यो मूर्ख प्रवृत्ति व्यर्थ अपनी करता क्षणिक कार्यको।
बुधजन खूब बिचार कार्य करते तजते वृथा कार्यको ॥८०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्माएं कषायोंकी तीव्र बाधासे आकुलित है वे संसारमें ही आशक्त रहती हैं, उनको आत्मीक शांतिकी परवाह नहीं रहती है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां नि.स्वस्थतां संसृतिं ।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम् ॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते ।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ॥८१॥

अन्वयार्थ—(चित्रोपद्रवसंकुलाम्) नानाप्रकारकी आपत्ति-योसे भरे हुए (उरुमलां) महा मलीन, (नि.स्वस्थतां) आत्मीक शांतिसे रहित महा आकुलतामय (संसृतिं) इस ससारको तथा

(आपत्तिभिर्वर्जिताम्) सर्व आपत्तियोंसे रहित (नित्यनिरंतरोन्नतसुखां) व सदा ही विना अन्तरके उच्च सुखको देनेवाली (मुक्ति) मुक्तिको (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमतिः) कषायसे बुद्धिको मूढ बनानेवाला (प्राणी) मानव (तत्वतो) तत्त्वदृष्टिसे या वास्तवमे (नो बुध्यते) नही समझता है। आचार्य कहते हैं फिर वह (अनुत्तमामृमुक्ति मुक्ता) ऐसी मुक्तिको जिसके समान जगतमे कोई उत्तम पदार्थ नही है त्याग कर (अपरथा) उससे विरुद्ध (ससृतौ) ससारमे (किं) क्यों (रज्यते) राग करता है।

भावार्थ —यहांपर आचार्यने बताया है कि जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है वह हितकारी पदार्थको छोड़कर बाधाकारी पदार्थको लेता फिरता है। यदि किसी मूर्खको एक हाथसे अमृत व एक हाथसे सूखी रोटी दीजावे तो अमृतको छोड़कर उस रोटीको ही लेलेता है क्योंकि उसको यह विश्वास नही है कि अमृतमे क्या गुण है। इसी तरह अज्ञानी प्राणीको यदि श्री गुरु एक तरफ तो मोक्षका स्वरूप बतावें, दूसरी तरफ संसारका स्वरूप बतावें और यह समझावें कि ससार जब जन्म, मरण, शोक, भय, रोग, वियोगादि उपद्रवोसे रातदिन भरा है तब मोक्ष इन सर्व आपत्तियोसे बिल्कुल दूर है। संसार जब मलीन व आकुलतामय है तब मोक्ष पूर्ण निराकुल व नित्य परमोत्तम सुखको लेनेवाला है तब भी वह मूर्ख अपनी अनादिकालीन आदतके अनुसार अनतानुबधी कषायसे अन्धा होता हुआ ससारहीमे राग करता है। मोक्षकी तरफ बिलकुल भी अपनी रुचि नही पैदा करता है। यही कारण है जो अनेक जीव धर्मोपदेशको सुनते हुए भी नही भीजते हैं। रातदिन दूसरे प्राणियो का मरण देखते हुए भी अपने कल्याणका उपाय

नही करते है । यह सब मोहका माहात्म्य है । तथापि जिसकी समझमें यह रहस्य आगया है कि ससार त्यागने योग्य है व मोक्ष ग्रहण करनेयोग्य है उसको तो फिर प्रमादके वशीभूत नही होना चाहिए और निरन्तर आत्मानुभवका उद्यम करके इसलोक तथा परलोकमे सुखी रहना चाहिए ।

स्वामी अमितगतिने ही सुभाषितरत्नसदोहमें कहा है—

विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तमं यथा गत क्षो न जनो विलोकते ।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम् ।१४५

भावार्थ—जैसे अन्धा मनुष्य नाना प्रकार वर्णो से बने हुए सुन्दर चित्रको नही देख पाता है, इसी तरह नाना प्रकार उत्तम तत्वोसे भरे हुए जिनेन्द्रके मतको दिखलाए जानेपर भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव नही समझाता है, यह सर्व मोहका तीव्र वेग है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

है संसार मलीन क्लेशकारी नाना उपद्रव भरा ।
सर्व आपत्ति विहीन मोक्षशाश्वत् परमोच्च वर सुखकरा ॥
है जो मोह कषाय बुद्धिधारी नहि बूझता सत्यको
सर्वोत्तम सुख मोक्ष छोड़ रमता ससार नि.सत्यको ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहरी पदार्थोंपर इच्छा रखनेसे पापका सचय होता है ।

रे दु:खोदयकारणं गुरुतरं बध्नति पापं जना: ।
कुर्वाणा बहुकाँक्षया बहुविधा हिंसापरा: षट्क्रिया: ॥
नीरोगत्वाचकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी ।
सर्वांगीणमहो व्यथोदयकरं कि यांति रोगोदयम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(रे)अरे ! बड़े खेदकी बात है कि (जना:)जगके

प्राणी (वहुकांक्षया) तीव्र विषयभोगोंकी इच्छाके वश होकर (वहु-विधा) नाना प्रकारकी (हिंसापरा.) हिंसाको वढ़ानेवाली (षट क्रिया:) असि, मसि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः तरहकी आजीविका सम्वन्धी क्रियाओको (कुर्वाणा:) करते हुए (दु:खो दयकारण) दु.खोकी उत्पत्तिके कारण (गुरुतरं) ऐसे भारी (पाप) पाप कर्मको (वध्नति) वाँधते रहते हैं। (नीरोगत्वचिकीर्षया) रोग रहित होनेकी इच्छा करके (अमी) ये प्राणी (अपथ्यभुक्तो.) अपथ्य भोजनोको (विदधत.) करते हुए (अहो) अहो ! (किं) क्या (सर्वांगीणम्) सर्व अंगमे (व्योदयकर) कष्टकोपैदा करनेवाले (रोगोदयम) रोगकी उत्पत्तिको (न यांति) नही प्राप्त होगे?

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने वताया है कि जो सच्चे सुखकी वाँछा रखते हैं उनको उसका सच्चा उपाय छोड़कर उससे विरुद्ध उपाय नही करना चाहिये। सच्चा सुख आत्मज्ञान व आत्म ध्यानसे होताहै। वह ध्यान परिग्रह त्यागसे भले प्रकार होसकता है। जो सच्चे सुखको चाहकर भी दु खोंको देनेवाले पापोंको नाना प्रकार आरम्भ करते वाँधते रहते हैं उनको सुख कभी प्राप्त नही होसकता। जो ववूल वोता है उसको काँटे ही मिलेंगे, उसको आमके फल कभी नही मिल सकते हैं। जो पापोंका संचय करेगा उसको दु.ख ही मिलेगा उसको सुखका लाभ कैसे होसकता है। इसपर दृष्टाँत दिया है कि जैसे कोई मानव निरोग रहना चाहे परन्तु वदहजमी करनेवाले ऐसे भोजनोको खाया करे तो फल उल्टा ही होगा अर्थात् रोग मिटानेकी अपेक्षा रोग वढ जायगा। रोगके वढनेसे सारे अग में भारी कष्टोको भोगना पड़ेगा।

इसलिए वुद्धिमान प्राणीको सुविचार करके वही काम करना

योग्य है जो उसके कामके सिद्ध करनेमे बाधक न हो। सुखके लिये धर्मका सेवन करना जरूरी है ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

अवति निखिललोकं यः पितेवादृतात्मा ।
दहति दुरितराशि पावकेवेन्धनौघम् ॥
वितरति शिवसौख्यं हन्ति ससारशत्रु ।
विदधति शुभबुद्धया तं बुधा धर्ममत्रं ॥६९०॥

भावार्थ—बुद्धिमान लोग यहाँ उसी धर्मको शुभ बुद्धिसे धारण करते है जो आदर किया हुआ सर्व लोगोको पिताके समान रक्षा करनेवाला है, जो पापके ढेरको इस तरह जलाता है जिस तरह अग्नि इंधन के ढेरको जलाती है, जोससाररूपी शत्रुको नाश करता है व जो मोक्षके सुखको देता है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

घर तृष्णा बहु करत कार्य हिंसक षट् रूप उद्यम नये ।
बाँधत पाप अपार दुःखकारी, नहिं बूझते सत्य थे ॥
जो चाहे नीरोगता परं भखे, भोजन बहुत कष्ट कर ।
पावै रोग महान देह अपनी, पीडे महा दोष कर ॥८२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कर्मशत्रुओंको नाश करनेसे ही मोक्ष सुख प्राप्त होसकता है—

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन्! विचित्रैश्चिरम् ।
नायं नायमवापितस्त्वमसुखं यैरुच्चकैर्दुःसहम् ॥
तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो ।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽनघसुखं निष्कंटकं निर्विश ॥८३॥

अन्वयार्थ—(योगिन्) हे योगी (भववने) इस संसाररूपी वनमे (यै.) जिन (उच्चकै:) वड़े (रौद्रै:) भयानक (विचित्रै.) नाना प्रकारके (कर्ममहारिभि:) कर्मरूपी तीव्र शत्रुओके द्वारा (चिरम्) अनादि कालसे (त्वम्) तूने (दु.सहम्) असहनीय (असुखं) दु खको (अवापित.) पाया है (अयं न अय न) ऐसा कोई कष्ट वाकी रहा नही जो तूने न पाया हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओको (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूपी आत्मध्यानकी तलवारसे (निर्मूलत:) जड़ मूलसे (न्यक्कृत्य) नाश करके (सिद्धिमहापुरे) मोक्षके महान नगर मे जाकर (अनघसुखं) पापरहित आनदसे भरे हुए (निष्कटकं) तथा सर्व वाधारहित (राज्यं) राज्यको (निर्विश) प्राप्त कर।

भावार्थ—यहापर आचार्यने वताया है कि इस जीवके साथ में अनादिकालसे कर्मरूपी शत्रुओका सम्वन्ध चला आता है। ये कर्म वड़े भयानक हैं व नाना प्रकारका कष्ट इस संसार वनमें इस मोही जीवको दे रक्खा है। कभी निगोदमे, कभी नर्कमे, कभी पृथ्वी आदि पर्यायमे, कभी कीड़ो मकोड़ोमे, कभी पशुपक्षियोमें, कभी रोगी व दलिद्री मानवोमे, कभी नीच देवोंमे जन्म करा-कराकर ऐसा कोई शारीरिक व मानसिक कष्ट वाकी नही रहा है जो न दिया हो। ये कर्म-शत्रु वड़े निर्दयी हैं। जितना इनसे मोह किया जाता है व जितना इनका आदर किया जाता है उतना ही अधिक ये इस प्राणीको घोर दु:खोमे पटक देते हैं। जवतक इनका नाश न होगा तवतक स्वाधीन आत्मीक स्वराज्य प्राप्त न होगा। इसलिये आचार्य कहते हैं कि श्री जिनेन्द्र भगवान ने जिस अभेद रत्नत्रयकी वनी हुई स्वानुभव रूपी खड़गका पता वताया है उस खडगको एक मन होकर ग्रहण कर और उसीका

बलपूर्वक अभ्यास कर। इसी तलवारसे कर्मोका जडमूलसे नाश होजाता है। वे कर्म धीरे २ सब भाग जाते है। वे इस यात्रीको मोक्षनगरके जानेमें विघ्न करते थे सो हट जाते हैं और यह सुगम तासे मोक्षकी अनुपम राजधानीमे प्रवेश करके परमोच्च अनुपम आत्मीक आनन्दका निरतर बेखटके भोग करता रहता है।

स्वामी पद्मनंदि सद्वोधचंद्रोदयमे कहते हैं कि ध्यानसे ही कर्मोका नाश होता है—

योगतो हि लभते विबंधनम् योगतोपि किल मुच्यते नर. I
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिल मुमुक्षुणा ॥२६॥

भावार्थ—योगको अशुद्ध रखनेसे कर्मोका वध होता है तथा शुद्ध योगसे अवश्य यह मानव कर्मोसे छूट जाता है। यद्यपि ध्यानका माग कठिन है तथापि जो मोक्षका चाहनेवाला है उसको गुरुके वचनोसे इस सर्व ध्यानके मार्गको समझ लेना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

हे योगी है कर्म शत्रु दुर्गम नाना तरह रूप धर।
भववनमें दु.सह जु कष्ट तुझको दीने बड़े है प्रबल ॥
रत्नत्रयमय खङ्ग वेग गहकर निर्मूल उन नाशकर।
जो निष्कटक राज्य मोक्षपुरका पावे सुखी होयकर।८३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नतिको लक्ष्यमे लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है—

मंदाक्रांता वृत्त

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥

न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवै रौप्यमाणै-
विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वंते स्वार्थमेव ॥८४॥

अन्वयार्थ—(य.) जो कोई (बाह्यार्थ) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदिके हेतुसे (तपसि) तप करनेमे (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरी ही पदार्थको (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु (य) जो (आत्मार्थ) आत्माकी सिद्धिके लिये तप करता है (सः) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र(आत्मानं) आत्माको (एव) ही (लभते) पाता है। (कोद्रवै रोप्यमाणैः) कोदो यदि बोए जावे तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमाः) चावल (न प्राप्यंते) नही मिल सकते हैं (इत्थ) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतयः) निपुण बुद्धिवाले (स्वार्थम्) अपने आत्मा के कार्यको (एव) ही (कुर्वंते) करते है।

भावार्थ—आचार्यने बताया है कि तप करलेमे अनेक गुण हैं, जो इस भावसे तप करते हैं कि हमे पुण्यबध हो व उस पुण्यसे हम बाहरी सपत्ति, राज्यधन, स्वर्ग आदि प्राप्त करें तो उनका भाव पवित्र व शुद्ध नही होता हैं। उनके भावोमे शुभ भावमात्र होते हैं जिनसे वे पुण्य बाँधकर बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपना निर्मल अविनाशी मोक्षपद है वह उनको कभी भी प्राप्त नही हो सकता। इसलिए जो कोई बुद्धिमान आत्मशुद्धि के हेतुको मनमे रखकर शुद्धोपयोगी प्राप्तिके लिये आत्मध्यानादि तप करते हैं उनको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है, वे अवश्य मुक्त होजाते हैं। जैसा बीज बोया जायगा वैसा फल होगा। शुभोपयोगसे पुण्य बंध होता है तब शुद्धोपयोगसे कर्मो का नाश होता है। यदि कोई कोदो बोवे और चाहे कि चावल पैदा हो तो कभी भी चावल नही मिल सकते—कोदोसे कोदों

ही पैदा होगा । चावलके चाहनेवालेको चावल ही बोना उचित है। प्रयोजन यह है कि ज्ञानीको तुच्छ सुखके लिए तप ऐसे महान परिश्रमको न करके मात्र आत्माधीन पवित्र सुखके लिए व सदाकालकेलिए बन्धनोंसे मुक्त होनेहीके लिए तपकरना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे मोक्षप्राप्तिके लिए ज्ञानपूर्वक तप करनेकी शिक्षा देते हैं—

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं ।
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं ॥
ज्ञातारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं ।
कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥२८॥

भावार्थ—हे सुबुद्धि ! अपने आत्माको स्वाधीन करके व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर, तत्वकी चिंतामें लीन होकर, संसारीक व्यापारोंसे रहित होकर व आत्महितमे तल्लीन होकर व निराकुल आनन्दमें पूर्ण होकर, ज्ञानके भीतर आरूढ़ होकर, शाँतभाव, मनका दमन व तप तथा ध्यानमें प्रवृत्ति करके तू केवलज्ञानका स्वामी बन । वास्तवमें इच्छारहित आत्मध्यान ही परमात्माके पदके लाभका उपाय है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो बाहर धन आदि हेतु तपता सो बाह्यको पावता ।
जो निजआतम हेतु ध्यान करता शुचि आत्माको पावता ॥
जो कोदोको बोवता नहिं कभी वह सालिको पावता ।
ऐसा जान विशाल बुद्धिकारी निज कार्यं उर लावता ॥८४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन आदि

बाहरी पदार्थोको ही अपना समझते हैं—

कांतासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो।
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भावा वहिर्भाविनः॥
तैः सपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानंति ये शर्मदां।
स्वं संकल्पवशेन ये विदधते नाकीशलक्ष्मी स्फुटम्॥८५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (कांतासद्मशरीरजप्रभृतयः) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकारसे ही (आत्मनः भिन्न) अपने आत्मासे भिन्न है (वहिर्भाविनः भावः)वाहर रहने वाले पदार्थ है (समीरणचलाः)तथा पवनके समान चचल हैं—टिकनेवाले नही हैं (कर्मभवाः) सो सव कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं। (इह) इस जगतमे (ये) जो (गतधियः) बुद्धिरहित प्राणी (तै) इन ही पदार्थोसे (आत्मन) अपनेको (शर्मदां) सुख देने वाली (संपत्ति) सपत्ति (जानंति) जानते हैं (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (सकल्पवशेन) अपने मनके संकल्पसे ही (स्व) अपने पास (नाकीशलक्ष्मी) स्वर्गकी लक्ष्मीको मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते है।

भावार्थ—यहांपर यह दिखलाया गया है कि जो मूर्ख क्षण-भगुर पदार्थोंके सम्बन्ध होनेपर उनको अपनी सम्पत्ति मानलेते हैं वे अंतमें पछताते हैं और शोकमे ग्रसित होते हैं, जगतमे स्त्री पुत्र, मित्र, वन्धुजन आदि चेतन पदार्थ तथा धन, धान्य, राज्य, ग्रह आदि अचेतन पदार्थ जव किसीको मिलते है तव कुछ पुण्य-कर्मका उदय होता है तव मिलते हैं और जगतके पुण्यकर्मका संबंध रहता है तवतक ही उनका सम्बन्ध रहता है, पुण्यके क्षय होनेपर उनका सम्बन्ध इतनी जल्दी छूट जाता है जैसे पवन

बहते हुए निकल जाती है । न तो इन पदार्थोंके सदा साथ रह-नेका निश्चय है और न अपना ही उनके साथ सदा बने रहनेका निश्चय । क्योंकि इन बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो मात्र इस देहके साथ है, देह आयुकर्मके आधीन है अवश्य छूट जायगी तब चक्रवर्तीको भी सर्व सम्पत्ति यहीं छोड़ देनी पड़ती है । आत्मा अकेला अपने पुण्य तथा पापके बंधनको लिए हुए दूसरी गतिमे चला जाता है । इन पदार्थोंको सुखदाई मानना भी भूल है । इनके लाभ करनेमे, इनकी रक्षा करनेमें, इनके वियोग होने पर, इनके बिगडने पर प्राणीको खेद व दुःख ही अधिक होता है, अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव इनको अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति नहीं मानता है । वह ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीक गुणोको ही अपनी अटूट व अविनाशी सम्पदा मानता है, अज्ञानीका इन अनित्य पदार्थोंको अपना मानना ऐसी ही मूर्खता है जैसे कोई अपने मनमे ऐसा माना करे कि मै तो स्वर्गका इंद्र हूं व देव हूं, मैं स्वर्गमे रमण कर रहा हूं । जैसा यह संकल्प झूठा है मात्र एक ख्याल है, वैसे ही अनित्य पदार्थोंको अपना मानना एक ख्याल है व भ्रम है । स्वामी पद्मनदि अनित्यपचाशत्मे कहते हैं—

हति व्योम स मुष्टिनात्र सरित शुष्कां तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोथ मरीचिका' विपति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ॥
प्रोतुंगाचलचूलिकागतमरुत् प्रेंखत् प्रदीपोपमै—
र्यत् सपत् सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥४३॥

भावार्थ—जो कोई मानव धन, पुत्र, स्त्री आदि अनित्य पदार्थोंके होते हुए इनको अपना मानकर मद करता है वह मानो

आकाशको अपनी मुट्ठीसे मारता है सूखी नदी मे तैरता है, प्यासे घबड़ाया हुआ मृगजलको पीना है। ये सब स्त्री पुत्रादि पदार्थ इसी तरह नाश होनेवाले हैं जैसे ऊँचे पर्वतकी चोटीसे आई हुई हवाके झोकेसे दीपककी लौ बुझ जाती है। इनको अपना मानना मूर्खपना है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो दारा सुत गृह अनित्य वस्तु है भिन्न निज आत्मसे।
रहते बाहर देह संग चंचल हो पुण्य परतापसे ॥
जो मूरख सपत्ति जान उनको सुखदाय सो दुख सहे।
मानो माने देव लक्ष्मि घरता मन बीच सोचा करें।८५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके पदार्थोसे राग दुःख-कारी है जब कि वैराग्य सुखकारी है—

मदाक्राता छन्द

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्मबधाय पुंसाँ।
नीरागाणां कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु ॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृतं सन्निपाताकुलानां।
नीरोगाणां वितरति परां तद्धि पुष्टि प्रकृष्टाम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(भुवने) इस लोकमे (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्तानाँ) रागी पुरुषोके लिए (कर्मबधाय) कर्मोके बधके लिए (भवति) होता है(तत् हि)वह ही पदार्थ(नीरागाणां,वीतरागी पुरुषोके लिये(कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मलको छुड़ाकर मोक्षके लिए होता है जैसे (यत् दधिगुडघृत) जो दही गुड तथा घी(सन्निपाताकुलानां) सन्निपातसे व्याकुल पुरुषोके लिए (मृत्यर्थं) मरणके लिये होता है (तत् हि) वह ही (नीरोगाणा)

निरोगी पुरुषके (परां प्रकृष्टां पुष्टिं) वहुत पुष्टि या शक्ति (वितरति) देता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने दिखलाया है कि परपदार्थ न बंधका कारण है न मोक्षका कारण है। असलमे रागभाव या ममताभाव कर्मबंधका कारण है और ममता रहित वीतरागभाव कर्मोंके नाशका कारण है। जिनके पास धन धान्य परिग्रह न हो परन्तु रागद्वेष या परिग्रहका ममताभाव बहुत अधिक हो तो उनके कर्मोका बन्ध होजायगा तथा जिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों के पास धनादि परिग्रह हो पर जो अपने स्वाभाविक ज्ञान व वैराग्यके वलसे उसको अपनी वस्तु नही जानते हो किन्तु मात्र पुण्योदयसे प्राप्त परवस्तु मानते हो उनके चित्तमे मोहभाव नही होता है। इससे यह परिग्रह उनके लिये अधिक कर्मकी निर्जरा का कारण है। चरित्रमोहके उदयसे उनके जो अल्प रागद्वेष होता है उससे जो कर्मबध होता है वह इतना कम है कि वह संसारके भ्रमणका कारण नही होता है। जबकि मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवके भावोमे धनादि परिग्रह हो या न हो, जगतके पदार्थोंसे बडा भारी ममत्त्व होता है इसलिये वह बहुत अधिक बध करता है। अज्ञानीका बध संसारभ्रमणका कारण है। परंतु ज्ञानीका बन्ध मोक्षमे बाधक नहीं है। उस ज्ञानीके जितना२ वीतरागभाव बढता जाता है उतनी२ अधिक निर्जरा होती जाती है। समवशरणमे बहुत रत्नोकी व सुवर्ण आदिकी रचना होती है वही श्री केवली भगवान विराजमान होते हैं। केवली भगवान पूर्ण वीतराग हैं उनके उस समवशरणकी विभूतिसे रञ्चमात्र भी कर्मोंका बध नही होता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि रागी जीवके परिग्रह बन्धका कारण है तथा वीतरागीके वह निर्जराका कारण हैं। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ होते हैं वह

धनादिका संचय करते हैं उनके पिछले कर्मोकी निर्जरा अधिक होती है क्योंकि वे भीतरसे उसके साथ मोह नही रखते हैं परन्तु जितने अंश रागभाव है उतने अंश बहुत थोड़ा कर्मबंध होता है। यहांपर दृष्टांत दिया है कि दही गुड़ और घी ऐसे पदार्थ हैं जिनको सन्निपात वाला खालेवे तो उसका मरण होजावे परन्तु यदि उनको निरोगी मानव खावे तो उसको बहुत अधिक बल प्राप्त हो। एक ही वस्तु किसीको हानिका निमित्त व किसीको लाभका निमित्त होती है। इसतरह ज्ञानीको धनादि परिग्रह निर्जरा व मोक्षका कारण है जब कि अज्ञानीको वह आस्रव तथा कर्मबंधका कारण है।

तात्पर्य—यह है कि हमको वीतरागी होनेका यत्न करना चाहिये। वह वीतराग भाव पदार्थोंके सच्चे स्वरूपके ज्ञानसे होता है। ज्ञानकी महिमा स्वामी अमितगतिने सुभाषित-रत्नसंदोहमें इस तरह कही है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेप्यभीष्टम् ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानके विना मानवोंका अहितसे बचना व हितमें प्रवर्तना असंभव है। विना स्वात्महितमें प्रवृत्ति किये पूर्व कर्मोका नाश नही होसकना है और विना कर्मोके नाशके कोई अपने इष्ट सच्चे मोक्षसुखको कभीभी नही पासकता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

जगमें जो-जो वस्तु कर्मबंधन रागी जनोंको करै।
सो सो वस्तु विरागभाव धरके हर कर्म मुक्ती करै ॥

जो दधि गुड़ घी सन्निपात धरके तनको वियोगी करे ।
सो ही रोगरहित पुरुष यदि भखै अत्यन्त पुष्टी करे ।८६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं लोभ कषाय ज्ञानी मानवोको भी सतापका कारण है—

सम्यग्दर्शनबोधसंयततप.शीलादिभाजोऽपि नो ।
सक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानल बिभ्रत. ॥
बिभ्राणस्य विचित्ररत्न नचितं दुष्प्रापपारं पयः ।
संतापं किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडवः ।८७।

अन्वयार्थ—(भवभृत:) ससारमे रहनेवाले प्राणीके(सम्यग्दर्शनबोधसंयमतप.शीलादिभाज:अपि) जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान-सयम, तप व शील आदि गुणोंको रखनेवाला भी है परन्तु यदि (लोभानलं बिभ्रत) उसके मनमे लोभकी आग जल रही है तो उसके पाससे(सक्लेशो) संक्लेशभाव (नो विनिवर्तते)नही हटता है। (विचित्ररत्ननिचितं) नाना प्रकार रत्नोके समूहको व (दुष्प्रापपारं पय.) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जलको (बिभ्राणस्य) धारण करनेवाले (उदन्वत:)समुद्रके(मध्यस्थित:) बीचमे रहा हुआ (वाडव:)दावानल (कि) क्या (सताप) सतापको या क्षोभको (न कुरुते) नही करता है ?

भावार्थ—यहॉपर यह बात दिखलाई है कि लोभकषाय महान आकुलता व सक्लेशभावका कारण है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या-यदि कोई सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी संयमी साधु भी हो और उनके भीतर यदि कभी प्रतिष्ठा पानेका, पूजा करनेका, रस सहित भोजन पानेका इत्यादि किसी प्रकारका लोभ होजावे तो उसके परिणाम शॉत व स्वस्थ न रहेंगे।

जब वह लोभको हटाकर सतोषी व शांत होगा तब ही उसका मन क्षोभरहित होगा। जैसे समुद्रमें अगाध जल होता है व रत्न भी होते हैं परन्तु उसके मध्यमे जो वडवानल जलती है उससे समुद्रका जल सदा क्षोभित रहता है—निश्चल नही ठहर सकता। यहा यह वताया है कि सम्यग्दृष्टी होकर भी निश्चिन्त रहना चाहिए किंतु सर्व लोभके मैलको हटानेके लिए परिग्रहका त्याग करके निर्लोभी होजाना चाहिए। निर्लोभी ही आकुलता रहित आत्मध्यान कर सकते हैं इसलिए लोभ कषाय को जीतना आवश्यक है।

स्वामी अमितगतिजीने सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है—

चक्रेशकेशवहलायुधभूषितोपि।
सतोपमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति॥
तृप्ति विना न सुखमित्यवगम्य सम्य—
ग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवति धीरा. ॥७६॥

भावार्थ—चक्रवर्ती, नारायण आदिकी वहुत विभूति व आयुध आदिसे विभूषित होनेपर भी यदि किसी मानवमे सतोष नही है तो उसको कभी तृप्ति नही मिल सकती है। जहाँ मनमे तृप्ति नही वहां कभी सुख नही प्राप्त होसकता ऐसा जानकर धीर पुरुष कभी भी लोभ रूपी पिशाचके वशीभूत नही होते है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

सम्यग्दर्शन ज्ञान संयममयी तप शील धारे सही।
पर मनसे तृष्णा तजे नहि कभी सक्लेश त्यागे नही॥
नाना रत्न समूह धार उदधी जलका नही पार है।
बड़वानल तिसमध्य नित्य जलता संताप कर्तार है।८७।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष परके पदार्थको अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नही समझते।

मंदाक्रांता वृत्तम्।

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या।
निर्मोहानां व्यपगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै-
र्मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

अन्वयार्थ—(मोहांधानां) मोहसे अन्धे जीवोके (हृदये) हृदयमें (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीय-बुद्धया) अपने आत्मापनेकी बुद्धिसे अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषोंके हृदयमे (व्यपगतमल.) कर्ममैलसे रहित (नित्यः) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापनेकी बुद्धिसे झलकता है। (चित्त) हे मन! (यदि यत्) अगर जो (तद्भेद), इन दोनोके भेदको (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीयै.) इन अपनोसे अर्थात् इन स्त्री पुत्रादिसे जिनको तूने अपना मान रक्खा है (स्वकीयं) अपनेपनका (दुष्टं) दुष्ट (मोहं) मोह (किं न) क्यों नही (क्षणेन क्षपयसि) क्षणमात्रमें नाश कर देता है।

भावार्थ—जहाँतक संसारी जीवोके हृदयमे मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि जिससे उनके मिथ्याभाव रहता है वहां तक वे पर वस्तुको अपनी माना करते है। जो शरीर क्षणभंगुर हैं उसे अपना मान लेते हैं, फिर शरीरके सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिलकुल अंधी होजाती हैं परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शनका प्रकाश

होजाता है तब पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जैसाका तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्माके ही शुद्ध स्वभावको अपना जानता है। रागादि भावोंको, आठकर्मो को व शरीरादिको व अन्य बाहरी पदार्थोको अपना कभी नही जानता है। वह देख करके निर्णय करलेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते है। किसीका सम्बन्ध मेरे आत्माके साथ नित्य नही रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थकी क्या गिनती ? तब वह ज्ञानी अपने मनको समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगतका एक परमाणु मात्र भी अपना नही है तब फिर तू क्यो मूढ वनता है और क्यों नहीं अपनी भूलको छोड़ता है। तूने जिन शरीरादि पदार्थोको अपना मान रक्खा है वे जब तेरे नही होते तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्माको ही अपना मान। वास्तवमे जिनके यथार्थ निर्णय हो जाता है उनके दुर्बुद्धि नही पैदा होती है।

श्री अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यथार्थतत्त्व कथित जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो वितनोति दुर्मतिम्
॥१५७॥

भावार्थ--जिनेन्द्र भगवानने सर्व शरीरधारी प्राणियोंको सदा सुख देनेवाले यथार्थ तत्वका कथन किया है। जो अपने कानोसे सुनकर दिलमे रखता है व ठीक २ निश्चय कर लेता है वह भव्यजीव फिर मिथ्याबुद्धि नही करता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो मिथ्याती मोह अन्धमति हो पर वस्तु निज मानता।
सम्यक्ती निजआत्म नित्य निर्मल उसको न निज जानता॥

रे मन ऐसा भेद ज्ञान करके निज आत्ममें लीन हो।
परसे अपना मोह सर्व हरले मत दुष्टसे छीन हो ॥८८॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्षके अधिकारी हैं---

शार्दूलविक्रीडितं छंद।

स्वात्मारोपितशीलसयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यका: ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदया. साहायकं कुर्वता ॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ।८९।

अन्वयार्थ—(स्वात्मारोपितशीलसयमभरा) जो शील व सयमके भारसे भरे हुये अपने आत्मामे ही लीन हैं (त्यक्तान्य-साहाय्यका) जिन्होने परवस्तुके आलम्बनका त्याग किया है (साहायक कुर्वता कायेन अपि विलक्षमाणहृदया:) जिनका मन ध्यानके साधनमें सहाय करनेवाले इस शरीरसे भी उदास हैं ऐसे साधु (परदुष्करं गुरुतप तप्यते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं (तत्र अपि ये निष्पृहा:) परन्तु उस तपमें भी जो वाँछा नही रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभवपर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देनेवाले (जन्मारण्य) ससार वनको (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्षको (गच्छति) चले जाते हैं।

भावार्थ—यहापर आचार्यने मोक्षके अधिकारी तपस्वियोका स्वरूप बताया है कि जो शील व सयम पालते हुये भी अपने आत्माके स्वभावमें लीन होनेको ही असली शील व सयम समझते हैं, तथा जिन्होने अपने मनको ऐसा वश कर लिया है कि उस मनको दूसरोकी मदद नही लेनी पडती है। शास्त्र व गुरुपदेशका

सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूपमे तन्मय है। यद्यपि इस शरीरकी ही मददसे वे अपना आत्मसाधन करते हैं तथापि इससे अत्यन्त विरागी है- इसका सम्बंध मिटाना ही चाहते है। वास्तवमे उनका सारा उद्यम इस शरीर के कारावाससे निकल कर स्वतन्त्र होनेका है। शरीरको दुष्ट चाकरके समान कुछ थोड़ासा भोजनपान देकर जीवित रखते हैं। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदीतट, वृक्षतल आदि कठोर व दुर्गम स्थानो पर खड़े होकर या बैठकर एकाग्र मन हो आत्माधीन तप तपते हैं तौभी उस तपमे प्रेम नही रखते है, तप करनेको वह एक सीढ़ी मात्र जानते है, ध्यान अपने स्वाधीन सुखके लाभमें ही रखते हैं। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु महात्मा ही कर्मोकी निर्जरा करके भयानक ससार-वनसे निकल कर परमानन्दमई मोक्षमे पहुच जाते हैं।

वास्तवमे आत्मानुभवी साधु ही सच्चे सुखके पात्र हैं। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशोपि सरागचित्तः।२३७

भावार्थ—जिसने अपनी वृत्तिको सर्वलौकिक व्यवहारसे हटा लिया है, जो अत्यन्त संतोषी है व सर्व दोषों से रहित है, वह जैसे बाधारहित सुखको पाता है ऐसे सुखके लेश अंशको भी सराग मनवाला नही पा सकता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पर आलम्बन छोड़ आत्म रमते निज शील संयम भरे।
तप सहकारि शरीर मात्रसे भी वैराग दृढतर धरे।

दुष्कर गुरुतर तपश्चरण करते वाँछा न तपकी करे ।
सो तपसी भयदाय भववन तजें शिवनारिको जा वरें ॥८९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ऐसे तपसी जो पुण्यकी वाँछा भी नही रखते, बहुत दुर्लभ हैं—

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतुमनसो ये पोषयते तपः ॥
जायंते शमसंयमैकनिषधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥९०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वं अशुभं कर्म) पहलेका बाधा हुआ पाप-कर्म (दुःखं) दुःखको व (शुभं निर्मितम्) शुभ कर्म बाधा हुआ (सौख्यं) सुखको (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभ निहंतुमनसः) पाप कर्मको नाश करने की मनसा करके (तपः पोषयंते) तपका साधन करते है (ते) वे (शमसंयमैकनिधयः) शाति व संयमके एक निधिरूप (योगिनः) योगी (दुर्लभा जायन्ते) बहुत कठिनतास मिलते है। (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगतमे (उभय-कर्मनाशनपराः) पुण्य पाप दोनो कर्मोंके नाशमे उद्यमी हों (तेषां) उन साधुओके सम्बन्धमे (अत्र) यहाँ (किं उच्यते) क्या कहा जावे ? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ—इस कथनसे आचार्यने बताया है कि वास्तवमें वही मोक्ष मार्ग है जहापर पुण्य तथा पाप दोनोसे विरक्त हो मात्र शुद्ध आत्माकी ओरलक्ष्य रक्खा जावे। निस्पृहपना ही एक साधु का लक्ष्य है। आत्मानन्दमे मगन रहनाही साधुका चिन्ह है। यद्यपि इस काल मे ऐसे विरले ही साधु मिलते है तथापि इसी रत्नत्रयमई भावको मोक्षमार्ग श्रद्धान करना चाहिये। पापकर्मों

के उदयसे जीव संसारमे दु ख पाते हुए व पुण्य कर्मोंकि उदयसे जीव सुख पाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि यह सुख ध्रुव होता, तृप्तिकारी होता व आगामी पापबन्धकारी न होता तब तो इस सुखको भी त्यागने योग्य न मानता। परन्तु इस सुखको महात्मा पुरुषोने मृगजलके समान मोक्षकारी व तृष्णा वर्द्धक माना है। इस जगतमे ऐसे साधु भी कम हैं जो सर्वथा पापोसे बचते हुए पुण्यके हेतुसे तपस्या करते हैं। वे यद्यपि यथार्थ मोक्षमार्गसे पतित हैं तथापि जगतको अपकारी नही है। प्रशंसनीय तो वे ही महात्मा साधु है जो आत्मानंदके प्रेमी होकर आत्मामे ही रमण करते हैं। इसी भावको ग्रहणकर पाठकोको स्वात्मलाभ करके अपना हित कर्तव्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वभावनादशकमें कहा है—

चैतन्यत्त्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात् तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः
संसारेत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥५॥

भावार्थ—अपने चेतन स्वभावका अनुभव दुर्लभ है परन्तु वह भी मोक्षको देनेवाला है किसी भी तरहसे उसको पाकर वारवार उसका चिन्तवन करना चाहिये। मोक्षही साक्षात् सुख है, उसीका ही साधन मुमुक्षु पुरुषोको करना योग्य है। वह सुख संसार भावमे नही है, जो कुछ है वह वह सुख नही है जो आत्मीक मोक्षका सुख होता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पूरब पाप करे जु दु.ख वहु दे शुभ कर्म सुख देत हैं।
ऐसा लख सब अघविनाश अर्थं तप मांहि चित देत हैं॥

ऐसे योगी संयमी चितसमी दुर्लभ सु इस काल हैं।
अति दुर्लभ शुभ अशुभ हनन तपसी वे सत्य शिवसुख लहैं ॥२०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओंके नाशमें उद्यमी रहते हैं—

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम्।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः॥
यो गत्वा विजिगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते।
नाहत्वा गृहमागतं स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः॥२१॥

अन्वयार्थ—(साधूनां) साधुओंके लिये (यत् संसारविस्तारकं कर्म) जो कर्म संसारका बढानेवाला है (रभसा उदीर्य) उसे शीघ्र उदयमें लाकर (विच्छेद्यं) छेदना उचित है तब फिर (स्वयं उदयागतं इदं) अपने आप ही उदयमें आए हुए इस कर्मको (विच्छेदने) नाश करनेमें (कः श्रमः) क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है। (बलवता) बलवान (विजिगीषुणा, विजयको चाहनेवाला पुरुष (गत्वा) जाकरके (यः वैरी) जिस शत्रुको (हठात्) बलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) यह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्) घरमें (आगत) आगया तब (कोविदैः) बुद्धिमान (अहत्वा) बिना मारे (न सत्यज्यते) नहीं छोडते।

भावार्थ—आत्माके शत्रु कर्म हैं क्योंकि ये कर्म ही बंधनमें डाले हुए आत्माकी स्वाधीनताको हरण किये हुए हैं. चारों गतियोंमें अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट देनेमें कारणभूत ये कर्मरूपी शत्रु ही हैं, जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा कर्मोंको अपना घातक समझ लेतेहैं वे अपनी स्वाधीनता पानेकेलिए उद्यमी होकर

यह चित्तमे ठान लेते हैं कि किसी भी तरह इन कर्म-शत्रुओं का सर्वनाश करना चाहिए। इसलिए घर तज वनमें जाते हैं और तपस्या करके कर्मों को, जो दीर्घकालमें नाश होते, उनको शीघ्र उदयमे लाकर नाश करते रहते हैं। ऐसे साधुओंके सामने यदि कर्मशत्रु स्वयं उदयमें आकर यहांतक कि उदीरणारूप बहुत अधिक उदयमें आकर उपसर्ग व परीषह द्वारा दुःख पैदा करके नाश होने लगें तो साधु उस समय बड़ा हर्ष मानते हैं व उनके नाश होनेमे कुछ भी अपना बिगाड़ नहीं करते। प्रयोजन यह है कि जब साधुओको तीव्र असातावेदनी कर्मकी उदीरणासे घोर उपसर्ग पड़ जावें व घोर परीषह सहना पड़े तो वे साधु उस समय अपने आत्मध्यानमें निश्चल रहकर उन आए हुए कर्मशत्रुओं को क्षय होने देते हैं। उस समय यदि साधु संक्लेश भावधारी होजावें तो नवीन असाता कर्मको बांध लेवे तब मानो उन्होंने शत्रुको नाश नहीं किया, उल्टा आप कर्मशत्रु के बन्धनमे फंस गए। परन्तु सच्चे पुरुषार्थी साधु संकटों के समय उत्तम क्षमाकी ढाल से अपने भावोंको पवित्र व आत्म-रमी रखते है इससे उन कर्मों का बड़ी सुगमतासे क्षयकर डालते हैं। बहुधा उपसर्ग पड़ने पर साधुओको तुर्त केवलज्ञान होजाता है। अभिप्राय यह है कि साधुओको कर्मोंका आक्रमण होनेपर उनको समताभावसे नाशकर डालना चाहिये-कभी भी आकु-लित न होना चाहिए। उस वक्त यह ही वीरभाव धारना चाहिए कि जैसा कोई वीर योद्धा अपने मनमे रखता है। किसी शत्रुको विजय करनेके लिए उसको चढाई करके जाना था। कारणवश वह शत्रु यदि स्वयं चढ करके आगया तब वह वीर-योद्धा अपनी अकाट्य सेना द्वारा उस शत्रुका व उसके दलका नाश करनेमे कोई कमी नहीं करता किन्तु बिना अधिक परि-श्रमके बड़ी सुगमतासे उस शत्रुका नाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको उचित है कि सदा ही कर्म शत्रुओको जीतनेकी ताकमें रहे, उनके वशमे आप न पड़े ।

वास्तवमें कषाय वैरीके नाशक ही साधु सच्चे गुरु है ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते है—

न रागिण: क्वचन न रोषदूषिता, न मोहिनो भवभयभेदनोद्यता:
गृहीतसन्मननचरित्रहष्टयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधना: ।६८४

भावार्थ—जो न कभी रागी होते हैं न क्रोधसे दूषित होते हैं न मोही हैं तथा जो ससारके भयको भेदनेके लिए उद्यमी है व जिन्होने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रको धारण कर लिया है ऐसे तपस्वी मेरे मनमे आनन्दके हेतु होवें ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

भववर्द्धन सब कर्म निर्जर करन जो शीघ्र मनसा धरे ।
जो आपीसे आगया उदयमे विन श्रम यती क्षय करे ॥
विजयी वीर विचारता कि जाकर निजशत्रु मर्दन करे ॥
सो आपीसे आगया स्वघरमे बुध तुर्त ही क्षय करे ॥६१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्याग विना मोक्षका लाभ नही हो सकता है—

मालिनी वृत्तम् ।

व्रजति भृशमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते ।
गतभरमुपरिष्टात्तत्र संत्यज्यमाने ॥
हृतकहृदय तद्वद्येन यद्वत्तुलाग्रं ।
जहिहि दूरितहेतुं तेन संगं त्रिधापि ॥६२॥

अन्वयार्थ—(हतकहृदय) हे शून्य हृदय ! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग्रं) तराजूका पलड़ा (तद्वत्) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक(अर्थजाते गृह्यमाणे)पदार्थोंको ग्रहण करते हुए यह जीव(अधस्तात् व्रजति) नीचेको अर्थात् नर्कनिगोद आदि गति को चला जाता है (तत्र संत्यज्यमाने) और जहां पदार्थोंको त्याग दिया जाता है तब (गतभरम्) भारसे हलका होकर (उपरिष्टात्) ऊपरको अर्थात् स्वर्ग या मोक्षको चला जाता है (तेन) इसलिये (दुरितहेतुं) पापबन्धका कारण (संग) परिग्रह को (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनोसे (जहिहि) त्याग दे।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने बताया है कि परिग्रहका भार इस जीवको नीच गतिकी तरफ लेजानेवाला है तथा परिग्रहके भारका त्याग ऊँचीगतिको ले जानेवाला है और इसपर तराजूका दृष्टांत दिया है। जैसे तराजूके पलडेपर जितना अधिक बोझा लादेंगे वह अधिक२ नीचेको जायगा और जितना बोझा उसमेंसे निकाल लेंगे उतना ही वह पलड़ा ऊँचा होता जायगा वैसे ही जितनी अधिक मूर्छा होगी उतना ही इस जीवका पतन होगा व जितनी मूर्छा कम होगी उतनी ही इस जीवकी उन्नति होगी। तत्वार्थसूत्रमे कहा है-"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।" बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह नरक आयु बन्धका कारण है। "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुपस्य" थोड़ा आरम्भ तथा थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। जो परिग्रहका प्रमाण करके श्रावकव्रत पालते हैं वे नियमसे देवगति जाते हैं,जो परिग्रहको त्यागकर ममताको हटा लेते हैं व तप करते हैं उनके यदि कषायभाव या रागभाव बिलकुल न मिटा तब तो वे साधु स्वर्गोमें १६ स्वर्ग तक व नौ ग्रैवेयकोमे या नव अनुदिशमे व पांच अनु

त्तरमें चले जाते हैं। जितना २ मूर्छारूप रागभाव या परिग्रह कम होता जाता है उतने२ ही ऊँचे जाने लायक पुण्यकर्म बाँध कर ऊंचे२ विमानमे देव,इन्द्र- या अहमिन्द्र पैदा होते हैं। जिन साधुओके रागभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है वे उसी जन्मसे अरहन्त परमात्मा होकर फिर सिद्ध परमात्मा होकर तीन लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्रमे विराजमान होजाते हैं। सबसे अधिक मूर्छा वान परिग्रही सबस अंतिम सातवे नर्कमे जाता है जब कि परिग्रहका पूर्ण त्यागी, पूर्ण वीतरागी सीधा मुक्तिमे चला जाता है, ऐसा जानकर आचार्य कहते है कि — हे आत्मन् ! यदि तू सर्वोच्च पदको प्राप्त करना चाहता है और ससारकी आकुलताओसे बचकर नित्य आत्मीक आनन्दका स्वाद लेना चाहता है तो सबसे ममता छोडकर एक निज शुभ स्वरूपका प्रेमी बन और उसीके मनोहर आत्म उपवनमे रमण कर, वृथा क्यो जगतके ममत्वमे अपनेको दीन हीन वना रहा है।

स्वामीअमितगतिने सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है कि लोभकी आग आत्मीक गुणोकी घातक है—

लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धि ।
लाभेन लोभदहन. समुपैति जन्तो. ॥
विद्यागमव्रततप शमसंयमादी—
न्भस्मीकरोति यमिनां स पुन. प्रवृद्ध ॥६४॥

भावार्थ--जैसे अग्निमे ईंधन डालनेसे आग क्षणभरमे वढती जाती है वैसे ही लोभकी आग प्राणीके भीतर लाभके होनेसे वढ जाती

है। वह बढी हुई लोभकी आग संयमी साधुओके विद्याके लाभ को, व्रतको, तपको, शांत भावको तथा सयमादिको भस्म कर देती है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

पलड़ा भारी जात है अधोको विन भार ऊपर रहे ।
जो कोई वह सङ्ग भार रखता सो नीचगति ही लहे ॥
तज परिग्रह जजाल हीय निस्पृह सो ऊर्द्ध गति जात है ।
मन वच काय सम्हार सङ्ग तजदे अघ वध जो लात है ॥९२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि तपको पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिए, मलीन न करना चाहिए।

सद्यो हन्ति दुरंतसंसृतिकरं यत्पूर्वकं पातकम् ।
शुद्ध्यर्थं विमल विधाय मलिनं तत्सेवते यस्तपः ।
शुद्धि याति कदाचनापि गतधीर्नासाववद्यार्जकम् ।
एकीकृत्य जलं मलाचिततनुः स्नात कुत शुध्यति ॥९३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विमल तपः) निर्मल तप (दुरन्त-ससृतिकरं) दु खमयी ससारको वढानेवाले (पूर्वकम्) पूर्वमें किये हुए (पातक) पापको (सद्य.) शीघ्रही (हन्ति) नाश कर सकता है (तत्) उस तपको (मलिन) मलीन व अवद्यार्जकम्) पापको बांधनेवाला ऐसा (विधाय) करके (य.) जो कोई (शुद्धयर्थं) कर्मो के मैलसे शुद्ध होनेके लिए (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधी) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धि याति) नही शुद्ध हो सकता है (मलाचिततनुः) मलसे जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जल एकीकृत्य) जलको मैलसे मिलाकर (स्नात.) स्नान करते हुए (कुतः) किस तरह (शुध्यति) मलरहित शुद्ध हो सकता है ?

भावार्थ—यहापर आचार्य दिखलाते कि शुद्ध वीतरागभावमई निर्मल तपसे ही कर्मोकी निर्जरा होसकती है । जो कोई तप तो करे परन्तु तपको भी अभिमान सहित करे व आगामी भोगोंकी इच्छारूप निदान सहित करे व इस श्रद्धानको न पाकर करे कि शुभ भावसे बध होता है तथा शुद्ध भावोस निर्जरा होती है और शुभ भावसे ही मोक्ष मानले तो ऐसा तप उल्टा कर्मोंको बाँधनेवाला है । यह तप मलीन है, शुभ या अशुभ भाव सहित है, ऐसा तप मिथ्यात्वसहित है । यदि घोर कष्ट सहकर व महीनो उपवास करके ऐसे मिथ्या तपको बहुत वर्षोतक साधन करे तोभी इस तपसे बध ही होगा, आत्मा अधिक मला होगा । जिस हेतुसे तप किया था कि मैं शुद्ध होजाऊं वह हेतु कभी भी पूरा नही होगा । परन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावो को बढ़ाता हुआ तप करेगा और शुद्धोपयोगमें रमण करेगा उसके अवश्य पिछले कर्मोकी बहुत निर्जरा होगी और नवीन कर्मोका बहुत सवर होगा । इसलिए शुद्धोपयोग भाव ही आत्मा को शुद्ध करनेवाला है । यह विश्वास दृढ रखके इस भावको जगानेके ही लिये तप करना योग्य है, जो आदमी मैलसे बिलकुल मैला हो रहा है उसके मैल धोनेके लिये शुद्ध साफ पानी चाहिये । यदि कोई मैलसे मिले हुये पानीसे नहावे तो उसका मैल कभी भी शरीरसे उतरेगा नही—और चढता रहेगा । शुद्ध पानीसे ही मसल मसलकर नहानेसे शरीर शुद्ध होगा, इसी तरह शुद्ध ध्यानमई तपके अभ्याससे ही मलीन आत्मा शुद्ध होगा ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमे निर्मल तप साधको की प्रशसा करते हैं—

जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा ।
निर्धूतक्रोधयोधा मुदि मदितमदा हृद्यविद्यानवद्या ॥
ये तप्यन्तेऽनपेक्षं जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा-
स्ते मुक्ति मुक्तबाधाममितगतिगुणाः साधवो नो दिशन्तु
॥९०९॥

भावार्थ—जो साधु जीव अजीव आदि तत्वोके जाननेमें चतुर हैं, जिन्होने कामदेवके भेदको विध्वंश कर डाला है, क्रोध रूपी योधाको क्षय कर दिया हैं, आठों मदोको चूर्ण कर दिया है, अज्ञान दूर करके दोषरहित हैं, ऐसे जो साधु सर्व परिग्रह रहित होकर विना किसी वांछाके मात्र मुक्तिके लिए आनन्द मनसे जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ तप तपते है वे अमर्याद ज्ञानगुणके धारी साधु हमको बाधारहित मुक्ति देवे। वास्तवमें कषायरहित ही तप सच्चा तप है ऐसे ही तपस्वी स्वय मुक्त होते हैं और दूसरोको भवसागरसे तारते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद।

दुखमय भवकर पूर्व पाप संचय जो शीघ्र मर्दन करे।
ऐसे निर्मल शुद्धि हेतु तपको मन मैल धरकर करे॥
सो निर्बुद्धि कुकर्म अर्जन करे नहिं कर्मसे शुद्ध हो।
मलतनधारी नर मलीन जलसे न्हाकर नही शुद्ध हो।९३।

उत्थानिका—आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यान से ही कर्मोका नाश होता है—

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम्।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनय. शुद्धेन कर्मेधनम्॥

लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्विलोकार्चिता.।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥९४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुनय.) मुनि (दुर्लभभेदयो. देहात्मनो) कठिनतासे भिन्न २ किये जाने योग्य शरीर और आत्माके (अंतरम्) भेदको (सपदि लब्ध्वा) शीघ्र पाकरके तथा (शुद्धेन) शुद्ध वीतरागतामई (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यानकी अग्निसे (कर्मेंधनम्) कर्मोके ईधनको (दग्ध्वा) जला करके (लोकालोक विलोकिलोकनयना) लोक और अलोकको देखनेवाले केवलज्ञान नेत्रके धारी होजाते हैं तथा (द्विलोकार्चिता:) इस लोकके चक्र वर्ती आदि मानव व परलोकके इन्द्रादिदेव आदिके द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहंत होकर (सिद्धि-वसते:) मोक्षरूपी वसतीके (पथान) मार्गको (कथयंति) बनाते हैं (ते) वे (न.) हमलोगोंको (सिद्धये) सिद्धिके लिये (संतु) होवें।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि भेदविज्ञानकी सबसे पहले प्राप्ति करनी उचित है। आत्मा और शरीरादि कर्म ये दोनों दूध पानीकी तरह मिले हुए हैं। और इनका संबंध भी अनादिकालसे प्रवाहरूप चला जाता है। कार्माण व तैजस शरीरोंसे तो यह जीव कोई क्षण भी अलग नहीं होता है। कर्मों के उदयके निमित्तसे ही अज्ञान और रागद्वेषादि भाव होते हैं, जो जिनवाणीके भले प्रकार अभ्यासके बलसे अपने आत्माको बिलकुल शुद्ध परमात्माके समान जाने और सर्व रागादि भावो को व परद्रव्योंको अपने आत्मासे भिन्न जाने तथा इस ज्ञानको बारबार मनन कर पक्का ज्ञान प्राप्त करले तब उसकी बुद्धिसे परसे राग हटता है और अपने आत्मस्वरूपमे रमणताकी शक्ति

पैदा होती है, तब इसके ध्यानका अभ्यास होता है। जितना आत्मध्यानका वीतरागतारूप अभ्यास बढता जाता है उतना उतना कर्मका मैल कटता जाता है। आत्मध्यानके ही अभ्यास से धर्मध्यानकी पूर्णता व शुक्लध्यानकी जागृति महान मुनियोके जो उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाले हैं होती है। इसी शुक्लध्यान से घातियाकर्मोको नाशकर वे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं तब उनको सर्व द्रव्य अपने गुण व अनत पर्याय सहित विना किसी क्रमके एक ही कालमें झलक जाते हैं। उस समय उनको सब ही देव, मानव, साधु, सत नमस्कार करते व पूजन करते व उनका धर्मोपदेश पानकर तृप्त होते हैं। वे उस समय उसी रत्नत्रयमई मोक्षमार्गको बताते हैं जिसपर चलकर वे स्वयं परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं। आचार्य भावना भाते हैं कि हम भी ऐसे अरहतोके वचनोपर श्रद्धा लाकर व उनहीकी तरह आत्म-ध्यानका अभ्यास कर शुद्ध हो जावे और मोक्षके अनुपम आनद को प्राप्त कर लेवें। प्रयोजन यह है कि विना किसी इच्छाके व मानरहित होकर जो शुद्ध आत्मध्यान करते है वे ही परमसुखी होते है। मलीन ध्यानसे कभी शुद्धि नही होसकती है।

श्री पद्मनदि मुनि परमार्थविंशतिमें कहते हैं—

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् ।
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं तदेतत्परम् ॥
यच्च न्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकार्यादि वा ।
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ॥५॥

भावार्थ—जो जाननेवाला है वही देखनेवाला है, वह सदा ही अपने चैतन्य स्वभावको नही त्यागता है। और वही मैं हूं कोई दूसरा नही हूँ। मेरे जीव तत्वको छोड़कर दूसरा कोई भी

तत्व मेरा कभी भी नही है। मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय जो क्रोध आदि कार्य है वे सब कर्मोके द्वारा पैदा हुए हैं। सैकडो शास्त्रो को सुनकर मेरे मनमे यही तत्व विद्यमान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो दुर्लभ इस आत्म देह अंतर लहि शीघ्र ज्ञानी भये।
वे मुनि निर्मल ध्यान अग्नि सेती अघकाष्ट बालत भये ॥
केवल नेत्र प्रकाश सर्व लखके त्रैलोक पूजित भये।
शिवमारग उद्योतकार सिद्धी हम होय भावत भये ॥९४।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनीश्वरोका चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मोको नाश कर देता है—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्क्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि ॥
दत्तोत्त्प्तिमनस्तमस्ततिहतेदेदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते ।९५।

अन्वयार्थ--(येषां) जिनकी (ज्ञानकृशानु.) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्वलतरः) अपने प्रकाशमे बढी हुई (सम्यक्त्ववातेरितः) सम्यग्दर्शनरूपी हवासे धौंकी हुई (विपापैधसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधनको जला देनेपर (दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहतेः) व मनको आकुलित करनेवाले सर्व रागादिक अन्धकारको दूर कर देनेपर (विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमिति) सर्व पदार्थोंके व तत्वोके समूह को एक ही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (देदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिताः) ऐसे विचित्र आचरणके (चारित्रिणः) आचरण करनेवाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्य

को (न रचयति) नही पैदा करने है ? अर्थात् उनका चारित्र आश्चर्यकारी ही है।

भावार्थ - यहाँ फिर आचार्यने सम्यग्ज्ञानमई आत्मज्ञानकी महिमा दिखलाई है और दिखलाया है कि ज्ञानकी सेवा करना ही चारित्र है। यह सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दृष्टी महात्माके भीतर प्रगट होती है,वह सम्यग्दृष्टी अपनी सम्यग्दर्शनरूपी हवा से उसे नित्य वढाता रहता है। अर्थात् आत्मश्रद्धा पूर्वक आत्म-ज्ञानका ध्यान करता है। तव जितना जितना आत्मध्यान वढता है उतना २ ही कर्मकाष्ठ अधिक २ वलता है, रागादि अंधकार अधिक २ दूर होता है, और ज्ञानकी आग वढती हुई चली जाती है। जब यह आत्मध्यानकी अग्नि चार घातियाकर्मोको जला देती है और सारे ही अंतरंग रागद्वेषके अंधेरेको मिटा देती है तव यह ज्ञानकी अग्नि अन्तिम सीमाको पहुँचकर महा विशाल केवलज्ञानरूप हो जाती है। उस समय सर्वही द्रव्य अपने गुण व पर्यायोके साथ एक ही काल झलक जाते हैं फिर केवलज्ञानरूपी अग्नि कभी बुझती नही है—सदा ही जलती रहती है। जिन्होने ऐसे आत्मध्यानरूपी चारित्रको आचरणकर ऐसी अपूर्व ज्ञान—अग्निको प्रकाश कर डाला है उन साधुओंका ऐसा विचित्र ध्यानका परिश्रमरूप चारित्र वास्तवमे साधारण मानवोके मनमे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मज्ञानरूपी अग्निको निरतर जलाकर उसीकी सेवा कर अपनेको शुद्ध करलेना चाहिये। पद्मनद मुनिने परमार्थविंशतिमे आत्मध्यानका व आत्मतत्वमे एकाग्र होनेकी भावना भाई है—

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्य महे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ॥

अस्माकं पुनरेकताश्चयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण--
स्फारीभूतमतिप्रबधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥१३॥

भावार्थ--जब हम व्यवहार मार्गमे चलते हैं तव हम श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, जिन गुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जव निश्चय मार्गमें जाते है तब प्रगट चैतन्यगुणसे झलकती हुई भेदविज्ञानकी ज्योति जल जाती है उस समय हम एकभावमे लय होजाते हैं तब हमको उत्कृष्ट तत्व एक आत्मा ही अनुभवमे आता है। अर्थात् जहा शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य कुछ अनुभवमे न आवे वही निर्मल आत्म ध्यान है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढती सम्यक्तकी पवनसे ।
ईंघन कर्म जलाय दोष मन सब कर दूर निज रमनसे ॥
उनके केवलज्ञान रूप होकर नित आप जलती रहे ।
तिन मुनि पालनहार आत्मचर्या आश्चर्य करती रहे ॥६५॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि जबतक किंचित् भी स्नेहका लगाव रहेगा तबतक कर्मोका नाश न होगा । इसलिये ध्यानी को वीतरागी होना चाहिये---

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम् ॥
आद्रत्वे वसुधातलस्य सजटा. शुष्यंति कि पादपा. ।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥६६॥

अन्वयार्थ-(यावत्) जबतक (चेतसि) चित्तमे (बाह्यवस्तु-विषयः)बाहरी पदार्थ सम्बन्धी (स्नेहः)राग (स्थिरः) थिररूपसे

(वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तबतक (दु.खदानकुशल.) दु ख देनेमे कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपंच.) कर्मोका जाल सो (कथ) किस तरह (नश्यति) नाश हो सकता है ? (वसुधातलस्य) जमीनके तलेके (आर्द्रत्वे) गीलेपनेके होते हुए (भृज्जत्तापनिरोधनपरा) अत्यन्त सूर्यके आतापको रोकनेवाले (शाखोपशाखान्विता) शाखा तथा उपशाखासे पूर्ण (सजटा·) तथा जटावाले (पादपा·) वृक्ष (किंशुष्यंति) कैसे सूख सकते हैं ? अर्थात् नही सूख सकते हैं ।

भावार्थ—कर्मरूपी वृक्ष अनेक दु.खरूपी काँटोंसे भरा हुआ है इसकी पुष्टि रागरूपी जलसे होती रहती है । जहातक राग का जल सिंचन होता रहता है वहाँतक यह कर्मरूपी वृक्ष बढ़ता जाता है । यदि कोई चाहे कि इस कर्मरूपी वृक्षकी बाढ न हो किन्तु यह सूखकर गिर पड़े तो उपाय यही है कि इसमे रागरूपी जलका सिंचन बन्द किया जावे तब यह शीघ्रही गिर जावेगा । एक वनमे अनेक वृक्षोके समूह है जिनकी बड़ी २ शाखाए हैं व जिनपर जटाए हैं ये वृक्ष बराबर बढते रहते हैं, जबतक इनकी जड़ोमे जमीनकी तरी मिलती रहती है । जब जमीनकी तरीका पोषण नही मिलता है तब वे बड़े २ वृक्ष भी सूखकर गिर जाते हैं ।

वास्तवमे कर्मोके नाशका उपाय वीतराग विज्ञानमई जिनधर्म है । अविरत सम्यग्दृष्टीको इस जिनधर्मका लाभ हो जाता है तब उसके कर्मवृक्षकी जड़ बिलकुल ढीली पड़ जाती है, अनतानुबंधी कषायका उदय नही रहता है । येही कषाय कर्मकी जड़को मजबूत करनेवाले हैं । मात्र अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन कषायका उदय सम्बंधी राग है सो कर्म

वृक्षमे कुछ पुष्टि देता है परन्तु उसकी जड़को मजबूत नही करता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टीके भीतरका जो कर्म-रूपी वृक्ष है वह एक न एक दिन बिलकुल सूख जायगा। जिसकी जड़ कमजोर होगई है वह अधिक दिन नही चल सकता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर पूर्ण वैराग्य इस तरहका होता है कि वह परमाणु मात्र भी परवस्तुको अपनी नही मानता है। उसके उदयप्राप्त कषायोके उदयसे जो कर्मबंध होता है उसको भी -कर्मविकार जानता है। फिर आत्मानुभवके अभ्याससे जितना२ राग घटता जाता है उतना२ कर्मवृक्ष सूखता.जाता है। जब वीतराग होजाता है तब सर्व कर्मोसे रहित शुद्ध होजाता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि ज्ञानीको उचित है कि वीतराग-भावके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करे।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

भोगा नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि।
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया ॥
स्वातन्त्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते नु मुक्ता. स्वयमसमसुख स्वात्मज नित्यमर्च्यम् ॥४१३

भावार्थ—ये इन्द्रियोके भोग काल पाकर स्वयं नष्ट होजाते हैं इनके भीतर कोई भी सार गुण नही मिलता है इसलिए हे जीव ! तू इन आपत्ति व भयके करनेवाले भोगोको आप ही अपनी धर्ममे बुद्धि लगाकर छोड़ दे क्योकि ये भोग स्वतन्त्र रहते हुए मनमे बड़े भारी सतापको पैदा करते हैं और यदि इनको छोड़ दिया जाय तो ये जीव स्वय ही पूजने योग्य और नित्य ऐसे अपने आत्मीकसुखको भोगते हैं जिस सुखके समान कोई सुख नही है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जबतक मनमे बाह्यवस्तु इच्छा थिररूप वर्तन करै ।
तबतक दुखकर कर्म जाल कैसे यह जीव चूरन करै ॥
पृथ्वीतलमें जलपना जु जबतक नहि वृक्ष हैं सूखते ।
सूरज ताप निरोध कर सुशाखा उपशाखमे लूंवते ॥९६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो विषयभोगोके लिये तपको छोड़ देते हैं वे निन्दा के योग्य है—

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम् ।
सूरीणाँ यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तप. सपदम् ॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विपयं गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तोऽसौ यदनेकदुखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥९७॥

अन्वयार्थ—(यत्)जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस तपके लिए (यत्) जो (तप) तप (सूरीणां) साधुओंको (अनश्वरी) अविनाशी (अनुपमा) और उपमा रहित (संपदम्) मोक्षलक्ष्मी को (दत्ते) देता है (चक्रं) चक्रवर्तीके राज्यको (अपाकरोति) छोड़ देते हैं (तत्) सो (सताम्) सज्जनोके लिए (चित्तं) आश्चर्यकारी (न) नही है। (यत्) जो (अत्र) इस संसारमे (असौ) कोई साधु (तप.) तपको (हित्वा) छोड़कर (विषयं) उस इंद्रियके विषयभोगको (गृह्णाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विपयभोग (अवरे भीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान भयानक संसारसमुद्रमे (अनेकदु.खम्) अनेक दु खोको (दत्ते) देने वाला है (तत्) यह बात (परम चित्रं) बहुत ही आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको

उच्च और उत्तम तथा नित्य पदार्थके लिए नीच व जघन्य व अनित्य पदार्थको अवश्य त्याग देना चाहिए। चक्रवर्ती राज्य करते है विषय भोगते हैं परन्तु उनको विषयभोगोसे कभी तृप्ति नही होती है। विपयभोग सुख ही ऐसा है कि जो तृष्णाको शान्त करनेके स्थानमे और अधिक वढा देता है। इसलिए वे चक्रवर्ती अपने शास्त्रज्ञानसे इस वातको भले प्रकार निश्चय करते है कि अविनाशी व अनुपम सुख अपने आत्माहीके पास है और वह सुख आत्मध्यानसे ही हासिल हो सकता है, निराकुलतासे उस आत्मध्यानको साधु महात्माही कर सकते है। इस अनुपम मोक्ष-सुखके लिए तीर्थंकरादि वडे२ राजा राज्यपाट छोड़कर साधु होगए और साधु होकर तप साध मोक्षको पहुँच गये। ऐसा जान चक्रवर्ती भी चक्रादि सम्पदा को छोडकर तप धारण करलेते है। आचार्य कहते हैं कि इसमे कोई आश्चर्यकी वात नही है क्योकि जो कोई वह काम करे जिसे सर्व वुद्धिमान लोग करते आरहेहै तथा जो परमोत्तम फलका कारण है तो इसमे सज्जनोको कोई अचम्भा नही दिखता है, यह तो उसने अपना कर्तव्य पालन किया। परन्तु आश्चर्य तो इस वातमे है कि जो कोई उत्तम तप करनेके लिए साधुपदकी क्रियाओको धारण करे और फिर उस साधुपदको क्षणभगुर अतृप्तिकारी विपयभोगोके लिए छोडदे यह वडे आश्चर्यकी वात है। क्योकि जिसे रत्न मिल रहे हो वह रत्न छोड़कर काचके टुकडोको वटोरले तो वह मूर्खही माना जायगा और उसका यह कृत्य विद्वान सज्जनोके दिलमे आश्चर्यकारी ही होगा। प्रयोजन यह है कि जो इद्रिय के विषय जीवको भयानक भवनमें घुमाते हैं और घोरानुघोर कष्ट देते है उनही विषयो के पीछे अपने तपको छोड़ना उचित नही है। यह नितान्त मूर्खता है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते हैं—

अपारसंसारसमुद्रतारकं न तन्वते ये विषयाकुलास्तप ।
विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं पिबन्ति मूढा. सुखलिप्सया विष ।।
८९८।।

भावार्थ--जो इन्द्रियोके विषयोके पीछे आकुल व्याकुल रहते हैं वे इस अपार संसार समुद्रसे पार उतारनेवाले तपको साधन नही करते हैं वे मूर्ख मानो हाथमे आए हुए अमृतको छोडकर सुखकी इच्छासे विषको पीते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

चक्री तपके काज चक्र छोडे आश्चर्य कुछ है नही ।
अनुपम सपत् नित्य तप जु देवे साधुजनोको सही ।।
जो तप तजके विषय भोग करते आश्चर्य भारी रहा ।
इन भोगोसे दु.ख घोर सहते भवदधि भयानक महा ।।९८।।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्माके सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य है—

शिखरिणी छन्द

रामा. पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता वह्वनर्था ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेपा ।।
किं रे दृष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं वाह्यमत्यस्य सर्वं ।९८.

अन्वयार्थ—(मूढ)रे मूर्ख! (रामा.)स्त्रियें (पापाविरामा:) पापोंकी खान हैं अर्थात् पापोको उत्पन्न करानेवाली है (तनय-परिजना:) पुत्र व अन्य परिवार (वहु अनर्था. निर्मिता)अनेक अनर्थोके कारण हैं (गात्रं) यह शरीर (व्याध्यादिपात्रं) रोग आदि कष्टोका ठिकाना है (अशेषा लक्ष्मी:) सम्पूर्ण लक्ष्मी

(जितपवनजवा) पवनके वेगसे भी अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् । (त्वया) तूने (भवगहनवने भ्राम्यता) इस संसारके भयानक वनमे भ्रमण करते हुए (सौख्यहेतु) सुखका कारण (कि दृष्ट) क्या देखा है ? (येन) जिस कारणसे (त्व) तू (सर्व बाह्यं) सर्व बाहरी पदार्थको (अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सततं) सदा (स्वार्थनिष्ठ.) अपने आत्मामे लीन (न भवसि) नही होता है।

भावार्थ—आचार्यने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन जिन साँसारिक पदार्थोको अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्माके सच्चे हितमे बाधक हैं। आत्माका यथार्थहित स्वात्मानुभवकी प्राप्ति करके आत्मानदका विलास करना है और धीरे २ कर्मबन्धनोसे मुक्त होकर परमानद पाना है। इस वैराग्यमई कार्यमे जितने भी रागके कारण है वे सब बाधक हैं। स्त्रियोका सम्बन्ध वास्तवमे गृहजंजालका बीज है, मोहको पैदा करानेवाला है। पुत्र पुत्रियोकी सततिका व उनके साथ अनेक आरम्भ परिग्रहकी वृद्धिका कारण है अतएव अनेक हिंसादि पापोके निरन्तर करानेका निमित्त है। पुत्र व परिवार सर्व मोह के कारण हैं, उनके रागमे फसा हुआ प्राणी आत्महितसे दूर हो जाता है। उनके निमित्तसे बहुतसे न करनेयोग्य कामोंको मोही जीव कर डालता है। शरीरका सम्बन्ध भी दुःखहीका हेतु है। क्षुधातृषा तो इसक नित्यके रोग है। ज्वर, खासी, स्वांस, फोडा फुंसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए है। जिस लक्ष्मीको पाकरके ये प्राणी संतोष मानते है उसके रहनेका बहुत कम भरोसा है। पुण्यके क्षय होते ही राज्यका भी नाश हो जाता है। क्षण मात्र मे धनवान प्राणी निर्धन होजाता है।

ऐसी दशामे कौनसा ऐसा पदार्थ इस जगतमे है जो प्राणीको सुखका कारण हो ? वास्तवमे क्षणभगुर चेतन व अचेतन पदार्थो के साथ रहनेका जब भरोसा नही है तब इनके निमित्तसे सुखी होना मानना मात्र भ्रम है । इस ससारके भयानक वनमें जिस जिस शरीरका व वाहरी पदार्थका आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते है तव उनसे स्थाई सुख कैसे होसक्ता है ? इसलिये आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपनी भूलको छोड़ और अपना मोह सर्व ही वाहरी पदार्थोंसे हटा । मात्र एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमे लीन हो जा, इसीसे तेरा भला होगा ।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

श्रियोपाया भ्रात.स्तृणजलचर जीवितमिदं ।
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिल कामजसुखम् ॥
क्षणध्वंसी काय प्रकृतितरले यौवनधने ।
इति ज्ञात्वा सन्त. स्थिरतरधियः श्रेयसि रता. ॥३३२॥

भावार्थ—राज्यपाटादि लक्ष्मी सव नाशवंत हैं, यह जीवन घासपर पडे हुए ओसकी वून्दके समान चंचल है, स्त्रियोंके मन की गति वड़ी विचित्र है। कामभोगका सुख सापकी चालके समान वडा टेढ़ा व सदा एकसा रहनेवाला नही है। यह शरीर क्षणभरमे नाशवन्त है तथा युवानी व धन स्वभावसे ही चचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर वुद्धिके धारी संत पुरुष इन पदार्थोंमें रति न करके अपने आत्मकल्याणमें लग जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

महिला सग निवास पापकारी सुत वंधु आपत्ति कर ।
है यह तन रोगादि कष्टकारी धन सर्व थिरता विगर ॥

रे मूरख भववन महान भ्रमते क्या सौख्य कारण लखा ।
जिससे तू सब बाह्यवस्तु तजके निजस्वार्थमें नही धसा ॥९८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त नही होती रत्नत्रयकी जरूरत है—

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिं ॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ॥९९॥

अन्वयार्थ—(ये मूढा) जो मूर्ख पुरुष (अनघ) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नोंके (ऋते) विना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञानसे (जन्मदुर्गं) ससारके किलेको (लंघित्वा) लाँघकर (निरुपमितसुखांसिद्धिं) अनुपम सुखको रखनेवाली सिद्धिको (यियासति) पाना चाहते है (ते) वे (नूनं) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनो भुजाओंसे (कल्पाँतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् उदधिं) कल्पातकालकी पवनसे उद्धत तथा जलचरोसे भरे हुए समुद्रको (तीर्त्वा) तरकरके (निजपुरम्) अपने स्थानको (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते है ।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने दिखलाया है कि मोक्षका उपाय रत्नत्रयकी एकता है । मार्गको जान लेने मात्रसे ही कार्यकी सिद्धि नही होसक्ती है । जो ऐसा मानते है कि हमने आत्माको पहचान लिया है अब हमे कुछ भी चारित्र पालनेकी आवश्यक्ता नही है, हम चाहे पाप करे चाहे पुण्य करे हमे बध नही होगा, वे ऐसे ही मूर्ख हैं जैसे वे लोगमूर्ख हैं जो यह चाहे कि हम अपनीभुजा-

ओसे उस समुद्रको पार करके चले जावेंगे जो कल्पकालकी घोर पवनसे डावाडोल है व जहाँ अनेक मगरमच्छ आदि भयानक जंतु भरे हुए हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकताकी जरूरत है। लौकिकमें भी हम देखते हैं कि यदि किसीको कोई व्यापार करना होता है तो वह पहले उमकी रीतियोको समझना है और उसपर विश्वास लाता है फिर जव उस विश्वास सहित ज्ञानके अनुसार उद्योग करता है तवही व्यापार करनेका फल पासकता है। इसी तरह हमको जानना चाहिये कि आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है, इसी वात को मनन करनेसे जव मिथ्यात्वका परदा हट जाता है तव सम्यग्दर्शन पैदा होजाता है अर्थात् आत्मप्रीति स्वानुभवरूप जागृत होजाती है। उसी समय उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इतनेसे ही काम न चलेगा ऐसे सम्यग्दृष्टी जीवको आत्मध्यानका अभ्यास करना होगा। मनको निराकुल करनेके लिये श्रावक या मुनिका चरित्र पालना होगा। जहा श्रद्धानज्ञान सहित आत्मस्वरूपमे रमणता होती है वही स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्षका मार्ग है,यही कर्मोंकी निर्जरा करके आत्माको शुद्ध करता है। इसलिये मात्र जाननेसे ही कार्य वनेगा इस बुद्धि को दूरकर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्रको पालना चाहिये।

अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमे कहा है—

सद्दर्शनज्ञानतपोदमाढ्यश्चारित्रभाजः सफला. समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ।२४२।
कषायमुक्तं कथित चरित्रं कषायवृद्धावपघातमेति।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम् ।।२३३।।

भावार्थ--सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इंद्रियदमन सहित जो जीव चारित्रको पालनेवाले हैं वे सर्व ही सफलताको पालेते हैं क्योंकि चारित्रके विना उन सबका होना व्यर्थ है ऐसा जान कर संत पुरुष चारित्रका यत्न करते हैं। चारित्र वही है जहां कषाय न हो। कषायकी वृद्धिसे चारित्रका नाश होजाता है। जब कषाय शाँत होती है तब ही आत्माके पवित्र चारित्र होता है।

जो मूरख इक ज्ञान मात्रसे ही भव दुर्ग लाँघन चहे।
निर्मल दर्शनज्ञान वृत्त विनगहि निजसुख प्रकाशन चहे॥
ते मानो युग वाहु सेहि तरकर निजथान जाना चहे।
जो सागर कल्पाँत वायु उद्धत जलचर महा भर रहे॥९९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उनहीका जीतव्य सफल है।

शार्दूलविक्रीडित ।

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगणं बुद्धया सदा शुद्धया।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगणं त्रेधा विमुच्यापरम्॥
जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं जैनं तपः कुर्वते।
तेषां जन्म च जीवित च सफल पुण्यात्मनां योगिनां।१००।

अन्वयार्थ—(ये) जो मुनिगण (सदा) सदाही (शुद्धया बुद्धया) निर्मल बुद्धिके द्वारा (भवमुक्तिकारणगणं) ससारके कारणोंको और मोक्षके कारणोको (ज्ञात्वा) जान करके (त्रेधा) मन, वचन, काय तीनोसे (अपर) इस जो संसारके कारण हैं उनको (विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्त मे (मुक्तिकारणगणं) मोक्षके कारण रत्नत्रयको (कृत्वा) धार

करके (जन्मारण्यनिसूदनक्षमभरं) संसाररूपी वनके नाश करने को समर्थ ऐसे (जैनं तपः) जैनके तपको (कुर्वंते) साधते है (तेषां पुण्यात्मनां योगिनां) उन्ही पवित्रात्मा योगियोका (च) ही (जन्म) जन्म जन्म (च जीवितं) और जीवन (सफलं) सफल है।

भावार्थ—यहां आचार्यने यथार्थ मोक्षपर चलनेवाले तपस्वी योगियोकी महिमा कही है, वास्तवमे यथार्थ बातयही है कि विना किसी माया, मिथ्या, या निदान शल्यके एक मुमुक्षुको अपनी बुद्धि निर्मल करके शास्त्रका अभ्यास और गुरुका सेवन तथा स्वानुभव पूर्ण युक्तिके बलसे यह भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र तो ससारके कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र मुक्तिके कारण हैं। फिर उसे उचित है कि संसारके कारणोको मन, वचन, कायसे भले प्रकार छोड़ दे और रुचि-पूर्वक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको ग्रहण करे। निश्चयसे इन तीनोकी एकतामे जो भाव पैदा होता है उसको स्वानुभव कहते हैं। इस स्वानुभवको करते हुए जो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए बारह प्रकारके तपोंको या मुख्यतासे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याते हैं वे,ही उनकर्मोकी निर्जरा करनेको समर्थ हो सकते हैं जो कर्म इस जीवको संसारके भया-नक वनमे भ्रमण करानेवाले हैं, ऐसे ही पवित्र महात्मा योगी इस भवसागरको पार करके सिद्धवासको शीघ्र पालेते हैं। ऐसे ही योगियोका जन्म भी सफल है तथा जीना भी सफल है। सच्चे धर्मकी नौका जिनको नही मिलती है वे भव समुद्रमे भटक भटककर अपना जीवन पूरा करते है। रत्नत्रयमई जहाजका मिलना वास्तवमे दुर्लभ है। जिनको मिल जावे उनको प्रमाद-

छोड़कर इसीपर चढ करके शिव महलमे जा पहुँचना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

विनिर्मलं पार्वणचद्रकात यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञ. ।
मानी कुलीनो जगमोऽभिगम्य. कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः।२३९।

भावार्थ—जिस पुरुषके अत्यन्त निर्मल पूर्णमासीके चद्रमा के समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है, वही जगतमे वन्दनीय है, उसीका जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धिका धारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो नितनिर्मल बुद्धिधार समझे ससार शिव हेतुको।
छोड भवके हेतु तीन सेती चित राख शिव हेतुको॥
साधे जैन तपं जु नाशकर्त्ता ससार बन भर्मको।
शुचि योगी जीतव्य जन्म अपना करते सफल धर्मको।१००।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि विषयसेवन विष खानेके समान है—

· शार्दूलविक्रीडितं छंद।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोग मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहल बल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः॥१०१।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई(निःश्रेयसशर्मदानकुशल)मोक्षके सुख देनेमे चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रयको (सत्यज्य) छोड करके (भीम दुर्गमवेदनोदयकरं)भयानक और अचित्य वेदनाको पैदा करनेवाले (भोगं) भोगको (मिथ)एकांतमें छिपके(सेवते)

सेवन करता है (मन्ये) मैं ऐसा मानता हूँ कि (स.) वह (जन्म-जरॉतकक्षयकर) जन्म जरा मरणको क्षय करने वाले (पीयूषं) अमृतको (अत्यस्य) छोड़कर (सद्य) शीघ्र ही (प्राणविपर्यादि-जनक) प्राणोंके घात करनेवाले (हालाहल) हालाहल विषको (वल्भते) पीता है।

भावार्थ—यहा आचार्यने वताया है कि सच्चा सुख आत्मा मे ही है और वह अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान, व चारित्रसे अर्थात् स्वात्मानुभवसे अनुभवमें आता है। इसी निश्चय रत्नत्रयके द्वारा मोक्षदशामे अनत आत्मीक सुख प्राप्त होता है। इस सुखके सामने इद्रिय भोगोका सुख ऐसा ही है जैसे अमृत के सामने विप। जैसे अमृतके खानेसे क्लेश मिटता व पुष्टि आती है वैसे आत्मीक सुखके भोगसे जन्म, जरा, मरण के रोग मिट जाते हैं और यह जीव अविनाशी अवस्थामे वना रहता है। जैसे विष हालाहलके पोनेसे महाकष्ट होता है तथा प्राणोका वियोग होजाता है वैसे विषयभोगोके करनेसे पापकर्म का वन्ध होता है जिसके उदयसे नानाप्रकारके दु.ख भविष्यमें प्राप्त होते है इसलिए यह शिक्षा दी जाती है कि इद्रिय विपय-भोगोकी लालसा छोड़कर एक आत्मीक सुखके लिए आत्मानु-भव करना जरूरी है।

आत्मीक सुखके भोगमे वीतरागता रहती है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है जवकि इद्रियभोगोमे अवश्य तीव्र रागभाव करना पडता है जिससे पापकर्मोंका वन्ध होजाता है। वर्तमान मे इद्रिय सुख जव तृष्णाको वढानेवाला है तव आत्मीक सुख परम सन्तोषको व सुख शातिको देनेवाला है। आत्मीक सुख स्वाधीन है जव कि इद्रिय सुख पराधीन है। सम्यग्दृष्टीको

विषयोकी इच्छा छोडकर आत्म सुखका ही उद्यम करना चाहिए ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ ।
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतरचितम् ॥
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्यांपिनि धने ।
यतो नायं सन्तः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥३३९॥

भावार्थ—यदि मुक्तिके स्थानमें निर्मल सुख पानेकी तेरी बुद्धि हो तो हे भाई ! हितकारी व पवित्र जिनमतका सेवन कर । कुछ दिन साथ रहने वाले धनादिमें तृष्णा न कर क्योंकि यह लक्ष्मी होती हुई भी किसीके साथ मरनेपर नहीं जाती है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो शिव सुख दातार रत्नत्रयको भ्रम भावसे छोड़ता ।
भयदायक अत्यन्त दुःखकारी इन्द्रिय विषय भोगता ॥
मैं मानं सो जन्म मृत्यु क्षयकर पीयूषको त्यागता ।
जीवन कारण प्राण घातकर्ता हालाहलं पीवता ॥१०१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि दुःख सुखमें जो समता धारण करते है उनको नया कर्मबन्ध नही होता—

हरिणी छन्द ।

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः ।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम् ॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः ।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(पुराकृतकर्मण.) पिछले बांधे हुए कर्मोके उदयसे (भविनः) इस ससारी प्राणीके (सौख्य दु.ख) सुख तथा दुःख होता है। तव (मे हृदये) मेरे हृदयमे (कथम्) किसलिये (कदाचन) कभी भी (राग. द्वेष) राग या द्वेष (स्फुरति) प्रगट होगा (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (यः) जो कोई (मनसि) मनके भीतर (तयो) उन दोनो सुख तथा दुखमें (समता) समभावको (दधाति) धारण करता है (सुधी·) वह बुद्धिमान (पूर्वं पापं) पहलेके पापको (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पापको (न चिनोति) नहीं बांधता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने व या है कि ज्ञानीको उचित है कि कर्मोके उदयमें समताभावको धारण करें। ज्ञानी सम्य-ग्दृष्टि यह बात अच्छीतरह जानते हैं कि पूर्वकृत पुण्यके उदय से सुख तथा पापके उदयसे दु.ख होता है। तथा कर्मोका उदय सदाकाल एकसा नही रहता है, यह अवश्य अनित्य है। विना-शीक वस्तुमें राग व द्वेष करना वृथा है समताभावसे सुख तथा दु·खको भोगलेना चाहिए, जो कोई सुखकी अवस्था होने पर उन्मत्त तथा दु.खो के होने पर क्लेशित नहीं होते उनके पूर्व के बांधे कर्मोंकी तो निर्जरा हो जाती है तथा नवीन कर्म नहीं बंधता है। कर्मोकी निर्जरा होनेका वडा भारी उपाय सम-भाव सहित जीवन विताना है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी रुचि अपने आत्माके स्वभावपर रहती है। वह आत्माके आनन्दका ही प्रेमी होता है। उसका अपनापना अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई सम्पदासे ही रहता है। वह मानो सर्व जगतके पदार्थों से उदास है। यही कारण है तो ज्ञानी मोक्षमार्गी है जब कि अज्ञानी संसारमे भ्रमण करनेवाला है।

अमितगतिमहाराज सुभाषित-रत्नसदोहमे ज्ञानकी महिमा वताते है ।

ज्ञानाद्धित वेत्ति तत· प्रवृत्ती रत्नत्रयं सचितकर्ममोक्ष. ।
ततस्तत. सौख्यभबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्न विदिधाति दक्ष: ।१८४।

भावार्थ—यह जीव ज्ञानके ही प्रतापसे अपने हितको समझता है तव उसकी प्रवृत्ति रत्नत्रय धर्ममे होती है। धर्मके सेवनसे पूर्व बाँधे कर्मोंकी निर्जरा होजाती है तव वाधारहित सुख प्राप्त होता है इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञानके सदा यत्न करते रहते हैं। तत्वज्ञानकी प्राप्ति के लिए हित कर्ता को उचित है कि श्री जिनेन्द्रकथित ग्रन्थोका पठन मनन, सदा करते रहे ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पूरव कृत कर्मानुसार जियको सुख दु ख होता रहे।
मेरे मनमें राग द्वेष क्या हो ज्ञानी विवेकी रहे ।।
ऐसा जान जु साम्य भाव रखते निजतत्त्वको जानते।
काटे पूरव पाप बुद्धियुत ते नूतन नही बाधते ।।१०२।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कषाय सहित तप कर्मोंकी निर्जरा न करके कर्मोका बाँधनेवाला है-

क्षपयितुमना: कर्मानिष्टं तपोभिरनिदितै. ।
नयात रभसा वृद्धि नीच: कषायपरायण: ।।
बुधजनमै. कि भेषज्यैर्निसूदितुमुद्यत. ।
प्रथयति गद त नापथ्यात्कदार्थितविग्रहम् ।।१०३।।

अन्वयार्थ—(आनन्दितै.) उत्तम (तपोभि.) तपोके द्वारा (अनिष्ट कर्म) अहितकारी कर्मको (क्षपयितु मना.) नाश करनेकी मनसा रखता हुआ (नीच) नीच मनुष्य (कपायपरायण.)

क्रोधादिक कपायोमे लीन होता हुआ (रभसा) शीघ्र ही (वृद्धि नयति) कर्मोको और अधिक वढा लेता है जैसे (वुद्धजनमतं) बुद्धिमानोके द्वारा सम्मत(भेपज्यै.)औपधियोसे(कदाचितविग्रहम्) शरीरको दु.खदाई(गद)रोगको (निमूदितुम्) नाश करनेके लिये (उद्यत.)उद्यमी पुरुप (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करनेसे (तं) उस रोगको(किं न)क्या नही (प्रथयति) वढा लेता है ।

भावार्थ—यहापर भी आचार्यने यही दिखलाया है कि कर्मो के नाश करनेकी मुख्य औपधि वीतरागभाव है। जितना भी वाहरी व अ नरग तप किया जाता है उस सबका हेतु कपायोका घटाव व वीतरागभावका झलकाव है। जो कोई तपस्वी होकर अनेक प्रकार शरीरको कष्टकारी तपको करे परतु कपायोका दमन न करे, शात भावको न प्राप्त करे तो उसके कर्मोकी निर्जरा न होगी। उल्टा और अधिक कर्मोका वध होजायगा। क्योकि वधका कारण कपाय परिणामोमे विद्यमान है। यहापर दृष्टांत देते हैं कि जैसे किसीको वहुत कठिन रोग होरहा है और वह अच्छे प्रवीण वैद्यकी वताई हुई औपधि लेरहा है परन्तु रोग वृद्धिके कारण जो अपथ्य या वद परहेजी है उसको नही त्याग रहा है तो वह कभी भी रोगसे मुक्त न होगा—उल्टा रोगको वढ़ाएगा। प्रयोजन यह है कि वीतरागभावोकी प्राप्तिका सदा उद्यम करना चाहिये तथा ध्यान ही मुख्य तप है वह आत्मानुभवके समय पैदा होता है, जहाँ अवश्य वीतरागता रहती है। सम्यग्दृष्टीका तप ही सच्चा तप है। मिथ्यात्व सहित महान तप करता हुआ भी संसारका मार्गी है—मोक्षमार्गी नही है।

मुमुक्ष जीवको इसलिए वीतराग भावपर ही लक्ष्य रखके

उसकी ही प्राप्तिका उपाय करना चहिए ।

श्री ज्ञानार्णवमें शुभचद्र मुनि कहते हैं—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।
जीवो जिनोपदेशोऽय समासाद्वंधमोक्षयोः ॥
नित्यानन्दमयी साध्वी शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥८४॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोको बाँधता है जब कि वीतरागी कर्मोसे छूटता है ऐसा सक्षेपसे जिनेन्द्रभगवानका उपदेश बंध तथा मोक्षके सम्बधमे जानना चाहिये । जो आरम्भका त्यागी वीतरागी साधु है वही नित्य आनन्दमयी, उत्तम, अविनाशी, आत्मासे ही उत्पन्न मोक्षलक्ष्मीको वरता है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो चाहे निज दुष्ट कर्म हनना निर्मल तपस्या करे ।
परसो नीच कषाय भाव रत हो निज कर्म बर्द्धन करे ॥
जो चाहे तन दु.खदाय गदको हनना सु औषधि करे ।
पर त्यागे न अपथ्य खाद्य सो नर निज रोग वर्द्धन करे ॥१०३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो साधु शरीरकी रक्षाके लिये आहार मात्र लेते हुए लज्जा पातें हैं वे वस्त्रादिक परिग्रहको कैसे स्वीकार करेंगे ?

शार्दूलविक्रीडित छद ।

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापरा. ।
दत्तं येशनमात्रकंगतमखं धर्मार्थिभिर्दातृभिः ॥
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये वद्धस्पृहा निस्पृहा—
स्ते गृह्णन्ति परिग्रहं दसधरा कि सयमध्वसकम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्षके सम्बधमें (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कण्ठाको बाधनेवाले (निस्पृह) संसारीक इच्छाके त्यागी हैं और(सद्रत्नत्रयपोषणाय)सच्चे रत्नत्रय धर्मको पालनेके लिये (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुष.) इस शरीरकी (रक्षापरा.) रक्षामे तत्पर हैं और जो (धर्मार्थिभि) धर्मात्मा (दातृभि.)दातारोसे(दत्तं)दिये हुए(गतमल) दोष रहित(अशन मात्रक)भोजन पात्रको(परिग्रह)ग्रहण करके (लज्जते) लज्जाको प्राप्त होते हैं (ते दमवरा)वे संयमके धारी यति(किं)क्या(संयम ध्वंसकम्)संयमको नाश करनेवाली (परिग्रह)परिग्रहको(गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यहाँ आचर्यने बताया है कि जैनधर्मको यथार्थ पालनेवाले साधुजन कभी भी परिग्रहको ग्रहण नही करते है। धन, धान्य आदि परिग्रह हिंसादि आरम्भका कारण है जिससे महाव्रत रूप साधुसयम नही पल सकता है। इसीलिये साधुजन सर्व परिग्रहको त्याग कर ही मुनि होते हैं। वे परिग्रहको ममता का निमित्त कारण जानते हैं। ऐसे साधुओको किसी भी इंद्रिय भोगकी कोई इच्छा नही होती है। वे मात्र कर्मोसे मुक्ति ही चाहते हैं। उनकी रातदिन भावना यही है। कि हम आत्मध्यान करके कर्मोको काटकर मुक्त होजावे, ऐसे साधु सयम पालनेके लिये ही इस शरीरकी रक्षा करना चाहते है। इसलिये वे ऐसा ही भोजनपान शरीरको देते है जिसे धर्मात्मा श्रावकोने भक्ति पूर्वक दिया हो। तथा जिसमे उद्दिष्ट आदिका कोई दोप न हो। ऐसे भोजनको लेते हुए भी उनको लज्जा आती है और रातदिन यह भावना भाते है कि इस शरीरकी पराधीनता मिटे और यह आत्मा निराकुल भावमे तल्लीन हो ऐसे साधु कभी भी धन धान्यादि परिग्रहको जिसे वे सयममे बाधक जानकर त्याग कर

चुके, ग्रहण नही करते है । वे साधु अपनी प्रतिज्ञामे अटल रहते हुए रात्रि दिन तत्वज्ञानकी भावना भाते है । और पूर्ण वीतरागताके लाभके लिये उद्यम करते रहते हे । तात्पर्य यह है कि परिग्रहका त्याग ही उत्ताम ध्यानका साधक है इस बातको कभी भूलना न चाहिये ।

ज्ञानार्णवमे श्री शुभचद्र मुनि कहते हैं—

रागादिविजय सत्य क्षमा शौचं वितृष्णता ।
मुने प्रच्याव्यते नून सगैर्व्यामोहितात्मन. ॥१४॥

भावार्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहोंमे मोहित होजाता है उसके रागादिकका जीतना,सत्य क्षमा, शौच और तृष्णा रहित पना आदि गुण नष्ट होजाते हैं ।

परिग्रहको मूर्छाका निमित्त कारण जानकर साधुजन उसे कभी भी ग्रहण नही करते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद ।

जो साधू नित मोक्ष उद्यम करे संसार नहि चाहते ।
रत्नत्रय वप हेतु हेय तनको शुचि मुक्ति दे राखते ॥
धर्मी दाता दत्त खाद्य लेते मनमाहि लज्जा धरे ।
सो यतिगण संयम विराधकर्ता परिग्रह न अगी करे ॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि यथार्थ तत्वके ज्ञाता जगतमे दुर्लभ हैं—

ये लोकोत्तरता च दर्शनपरां दूती विमुक्तिश्रिये ।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमा जल्पति श्रृण्वन्ति च ॥

लोके भूरिकषायदोपमलिने ते सज्जना दुर्लभा. ।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेपां किमत्रोच्यते ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(भूरिकषायदोषमलिने लोके) तीव्र कपायोंके दोषसे मलीन ऐसे इस जगतमे (ये सज्जना) जो सज्जन (विमुक्तिश्रिये)मोक्ष रूपी लक्ष्मीके मिलानेके लिए(दूती)दूतीके समान (च।और (लोकोत्तरता) लोकसे तरनेका मार्ग बतानेवाली तथा (दर्शनपरां; सम्यग्दर्शनको दिखानेवाली (अनुपमा) व जिसकी उपमा जगतमे नही हो सकती है ऐसी (जिन भारतीम्)जिनवाणीको (जल्पति) पढते हैं. (श्रण्वति) सुनते है (च रोचते। और उसपर रुचि लाते है (ते दुर्लभा) वे कठिन हैं तव (ये) जो (तदर्थम्) उस मुक्तिके लिये(उत्तमधिय)उत्तम ज्ञानका(कुर्वति) साधन करते हैं (अत्र) यहां (तेषा किं उच्यते) उनके लिये क्या कहा जावे ?

भावार्थ—यहा आचार्यने वताया है कि यह ससारी जन क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कपायोंसे मलीन होरहे हैं। रातदिन इंद्रिय विषयकी लोलुपतामे फसे हैं। स्त्रीपुत्र आदिमे मोही होरहे हैं—ऐसे जगतमे जिनवाणीको प्रेमसे पढनेवाले सुननेवाले तथा उसपर रुचि लानेवाले वहुतकम हैं यहांतक कि दुर्लभ हैं। यह जिनवाणी सच्चा मुक्तिका मार्ग दिखाती है, रत्नत्रयमे सबसे मुख्य सम्यग्दर्शन है उसको प्राप्त करती है, जिसके अभ्याससे दूध पानीकी तरह मिले हुए जीव अजीव पदार्थ भिन्न भिन्न दिखलाई पड़ जाते हैं। इस जिनवाणीकी उपमा इसलिए नही होसकती है कि इसमे अनेकान्तरूप पदार्थोका जैसा स्वरूप है वैसा दिखाया है। स्याद्वादनयसे वस्तुके स्वरूपको वताया है

जो वात अन्य शास्त्रोमें नही मिलती है। दृष्टांतमें पदार्थ न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है। हरसमय पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। गुणोके व स्वभावोके ध्रुवपनेकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है जब कि पर्यायोके पलटनेकी अपेक्षा पदार्थ अनित्य है। अवस्थाएँ हर समय होती रहती हैं। इस तरहका कथन जिनवाणी ही स्पष्ट खोलकर बताती है। यह अवश्य मुक्तिरूपी स्त्रीके मिलनेके लिये दूती है क्योकि जो श्रुतज्ञान द्वारा भेद-विज्ञानका लाभ करते है और परसे भिन्न आत्माको अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्ष रूप स्त्रीकी ओर चले जाते हैं। ऐसी जिनवाणीके कहे हुए तत्त्वोको श्रद्धान करनेवाले व कहने सुनने वाले वहुत कठिन है। परन्तु जो तत्वज्ञानके अनुसार मुनि हों आत्मध्यानका अभ्यास करके केवलज्ञानकी प्राप्तिका उद्यम करते हैं ऐसे महान पुरुष तो वहुत ही दुर्लभ हैं। उनके सम्वन्ध मे क्या शव्द कहा जावे सो कोई शव्द नही मिलता है।

प्रयोजन यह है कि आत्मानुभवके उद्योगको वड़ा ही अपूर्व लाभ जान करके जो आत्महित करना चाहें उनको प्रमाद न करके मुक्तिका साधन कर लेना चाहिये।

श्री पद्मनंदि मुनि जिनवाणीकी स्तुतिमें कहते है—

कदाचिदंवत्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधोतेपि तत्वनिश्चयः।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्मनिष्फलं ११
त्वमेवतीर्थं शुचि वोधिवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धकारण।
त्वमेव चानदसमुद्रवर्धने, मर्गांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥२४॥

भावार्थ--हे जिनवाणी माता, तेरी कृपा विना शास्त्रको पढते

व सुनते हुए भी तत्वका निश्चय नही होता है तब फिर तेरे आश्रय बिना पुरुषमे भेदविज्ञान कैसे होगा ? जो तेरी सेवा नही करते उनका जन्म निष्फल है। तू ही पवित्रज्ञान जलको रखनेवाली नदी स्वरूप है, तू तीन लोकके जीवोको शुद्ध करने का कारण है और तू ही निश्चय आत्मतत्वके श्रद्धान करनेवालों को आत्मानन्दरूपी समुद्रके बढानेके लिए चंद्रमाके समान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो जगतारण मोक्षलक्ष्मिदूती सद्दर्शनं दायका,
अनुपम जिनवर वाणि पाठ करते सुनते रुची धारका।
ते सज्जन दुष्प्राप्य आज जगमे क्रोधादिमल पूर जो,
कहना क्या उनका स्वमुक्तिहेतू साधे परमज्ञान जो।१०५।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो इस ससारसमुद्रसे तर गए हैं वे अरहंत इसी प्रकारकी शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरें—

ये स्तूयां जन्मसिंधोरसुखमितिततेर्लीलया तारयित्वा।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मी बुधसमितिमतां निर्मलामर्पयन्ते॥
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वाः।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षा मम परमभुमी विद्यते नात्र चित्रम्
॥१०६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (असुखमितिततेः जन्मसिंधो) दुःखोंके समूहसे भरे हुए ससारसमुद्रसे (लीलया तारयित्वा) लीला मात्र मे पार उतारकर (स्तूयाँ) प्रशसनीय (नित्यं) अविनाशी (बुधसमितिमताँ) बुद्धिमानोंसे माननीय (निर्मलाम्) निर्मल (निर्वाणलक्ष्मी) मोक्षलक्ष्मीको (अर्पयन्ते) प्रदान करते हैं (तेपि) वे

ही (स्वाधीना) स्वाधीन हैं (यत्तत्) क्योकि(व्यपगततमोज्ञान-सम्यक्तपूर्वा) उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्तपूर्वक ज्ञान द्वारा नष्ट होचुका है वे(अन्य शिक्षाँ न पोष्यन्ते) अन्य शिक्षाकी पुष्टि नही करते है (अत्र) यहा (मम उरौ) मेरे दिलमे (पर चित्र) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नही होता है।

भावार्थ—जो स्वय जिस कामको सिद्ध करलेता है वह उस काममे दूसरेको भी लगाकर उसका उद्धार कर सकता है। अर्हन्त भगवान सम्यग्ज्ञानकी सेवा करके स्वय कर्मोके बंधनसे छूटकर स्वाधीन होगए। वे अपनी दिव्यवाणीसे इसी प्रकारकी शिक्षा देते है कि जो कोई सम्यक्तपूर्वक ज्ञानको प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह ससारसमुद्रसे उसी तरह पार होजायगा जिस तरह हमने पार पालिया है। उनकी इस सम्यक शिक्षा को ग्रहण करते है व उसपर चलते हैं वे भी शीघ्र संसारसमुद्र से पार होजाते है और उस मोक्षलक्ष्मीको पालेते हैं जिसके लिये सन्त पुरुष निरन्तर भावना किया करते है व जिसका कभी क्षय नही होता है तथा जो कर्ममलसे रहित निर्मल है। आचार्य कहते हैं कि जो स्वय तर गए है उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिए जॉय तो कोई बडे आश्चर्यकी बात नही है। जो जहाज स्वय तैरता है वही दूसरोको भी अपने साथ पारकर देता हैं। तात्पर्य यह है कि हमको श्री अरहंत भगवानकी परमोपकारिणी शिक्षाके ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे अरहतका स्वरूप बताते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्वं।
भेदाभेदावलीढं त्रिभुबनभुवनाभ्यन्तरे वर्तमानम्॥

लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकने यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भवभवनमिदे भावयन्त्वाप्नमत्र।६४७

भावार्थ—जिसका ज्ञान तीन लोकके भीतर पाए जाने वाले भाव तथा अभाव स्वरूप, अनेकरूप, व एकरूप, भेदरूप व अभेदरूप द्रव्योके और पर्यायोके स्वरूपको देखते हुए लोक और अलोक दोनोको देखनेवाला है उस सर्वदोष रहित अरहन्तदेवको यहा ससार - घरके नाश करनेके लिए मोक्षके चाहनेवाले सेवन करहु।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो भवसागर दुखदाय क्षणमें भवि जीवको पारकर,
देते मोक्ष पवित्र नित्य लक्ष्मी जो चाहते ज्ञानधर ।
वे हैंगे स्वाधीन सर्वतमहर सम्यक्तमय ज्ञानसे,
जो देते नहि अन्य कोय शिक्षा नहि मो अचम्भादिसे।१०६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस ससारमे कोई वस्तु सुखदायक नही है—

ध्रुवापाय काय परिभवभवा सर्वविभवा. ।
सदानार्या भार्या· स्वजनतनया. कार्यविनया: ।।
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे ।
दुराराधेऽगाधे किमपि सुखदं नानरपद ।।१०७।।

अन्वयार्थ--(काय) यह शरीर (ध्रुवापाय) निश्चयसे नाश होनेवाला है (सर्वविभवा) सर्वसम्पत्तिये (परिभवभवा.) वियोग के सन्मुख हैं। (भार्या.) स्त्रियें (सदा अनार्या। सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यतासे व्यवहार करनेवाली नही है (स्वजनतनया.) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनया) अपने मतलबसे विनय करनेवाले हैं। (दत्तमरणे) मरणको देनेवाले

(विगतशरणे) व शरणरहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखोंसे भी जिसका तरना कठिन है (असारे ससारे) ऐसे इस साररहित ससारमे (अपरपदं) सिवाय मोक्षके दूसरा कोई पद (सुखदं न) सुखका देनेवाला नही है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि यह ससार बिलकुल असार है। इसमे संसारी प्राणियोको थिरता प्राप्त नही होती-वे जन्मते मरते रहते हैं। उनको कोई मरणसे बचा नही सकता। इसका आदि व अन्त नही है तथा यह इतना विशाल है कि इसका पार करना कठिन है। इसमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माको सुखदाई नही है। पहले तो यह शरीर ही नाशवंत है, आयु कर्मके आधीन है, इसके छूट जानेका कोई समय नियत नही है। लक्ष्मी आदि बहुतही चंचल है, स्त्रियोका ससर्ग मोहमे फंसानेवाला है व आत्मध्यानमे बाधक है। कुटुम्बीजन व पुत्रादि सब अपने२ मतलबको देखते हैं। जब स्वार्थ नहीं सधता है तब बात भी नही करते हैं। स्वार्थमे विरोधी पिताको भी पुत्र मार डालते हैं। इस संसारमे सर्वही मित्र आदि मतलबके ही साथी है। जिस २ चेतन व अचेतन पदार्थ का सग्रह किया जाता है कि इससे कुछ सुख मिलेगा उसीका वियोग होजाता है। पराधीन सुख आकुलताका ही कारण है। इसलिए यही अनुभव करना चाहिए कि सच्चा सुख आत्मामें ही है। उसीकी चाह करके सामायिकका अभ्यास करना योग्य है। श्री अमितगति स्वामी सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता,

सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतय. ।

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपला. सर्वंभविना-

महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२९॥

भावार्थ—सर्व संसारी जीवोके लिए ये रूप, स्थान, कुटुम्बी जन, पुत्र, पदार्थ, स्त्री, पुत्री, लक्ष्मी, यश, चमक, राग, बुद्धि, स्नेह तथा धैर्य सब मदसे उन्मत्त स्त्रीके नेत्रके स्वभावके समान चंचल हैं। अहो ! बड़े कष्टकी बात है कि ऐसा जान करके भी यह मानव इन्द्रियोके विषयोको सेवन करता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

है यह तन जु विनाशनीक लक्ष्मी है सर्व जग चंचला।

भार्या नित्य कुमोहकार स्वजना अर सुत्र स्वारथसगा ॥

है संसार असार शर्ण नहिं को जब मृत्यु आजात है।

दुस्तर दुर्गम लोक माहि वस्तू सुखकरन दिखलात है।१०७

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई बच नही सकता।

मालिनी वृत्तम्।

असुरसुरविभूनां हंति कालः श्रियं यो।

भवति न मनुजानां विघ्नतस्तस्य खेदः ॥

विचलयति गिरीणां चूलिकां यः समीरो।

गृहशिखरपताका कंपते किं न तेन ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(यः कालः) जो मरणरूपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवोंके स्वामियोंकी (श्रियं) लक्ष्मीको (हंति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (मनुजाना) मनुष्योकी सम्पत्तिको (विघ्नतः) हर लेनेमें (खेदः) खेद (न भवति) नहीं होसकता है। (यः समीरः)

जो पवन (गिरीणां चूलिका) पहाडोकी चोटियोको (विचलयति) हिला देती है (तेन) उस पवनसे (गृहशिखरपताका) घरके शिखरकी ध्वजा (कि न कपते) क्यो न काप जायगी ?

भावार्थ--आचार्य दिखलाते है कि मरणसे कोई भी ससारी प्राणी वच नही सकता। बडी २ आयुके धारक व वडी सामर्थ्य के धारक इन्द्रादिक देवोको भी यह मरण नही छोडता है तव थोडी आयुधारी व थोडी सामर्थ्यधारी मनुष्योको तो मरण कैसे छोड सकता है ? जिस समय मरण आजाता है उस समय वह सब सम्पदा जिसको हम अपनी मान रहे थे बिलकुल छूट जाती है। मरण करते हुए जीवके साथ उसका बांधा पुण्य या पापकर्म तो जाता है परन्तु अन्य कोई चेतन व अचेतन पदार्थ विलकुल साथ नही जा सकते हैं। वास्तवमे कर्मभूमिके हम मनुष्य तथा पशुओका जीवन तो पानीके वुदबुदेके समान चचल है क्योकि जब देवोके व भोगभूमि जीवो के अकाल मृत्यु कोई बाहरी क्षयकारी कारणके मिलनेसे होजाती है इसलिए हम लोगोके जीवनको हर लेना तो यमराजके लिये बिलकुल सहज है। यह वात बिलकुल ठीक है कि जो हवा पर्वतोके शिखरोको हिला सकती है उसके लिये घरके ऊपरकी पताकाको हिलाना क्या कठिन है ? कुछ भी नही।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जव हम लोग मरणके मुखमे सदा ही बैठे हुए है तव हम लोगोको धर्मसाधनमे व आत्महितमे प्रमाद न करना चाहिये।

मानव जन्ममे देवोके जन्मसे भी यह विशेपता है कि जिस सयम व ध्यानसे आत्मा परम पवित्र होसकता है वह सयम तथा ध्यान इस मानव शरीरसे ही हो सकता है। इसलिये इस जन्म के समयको वडा ही मूल्यवान समझकर हमे इससे आत्महित

करलेना चाहिये।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

देवाराधनमंत्रतन्त्रहवनध्यानगृहेज्याजप—
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनव्रज्या द्विजार्चादिभिः ॥
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानगीकृतो भक्षितुं ।
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम् ।२९७।

भावार्थ—जैसे वाघसे पकड़ा हुआ प्राणी जंगलमे मरणसे वच नही सकता। इसीतरह जव इस प्राणीको भयानक यमराज भक्षण करता है तव देवपूजा, मंत्र, तंत्र, होम, ध्यान, ग्रहपूजा, जप, स्थानसे चले जाना, धरतीमे प्रवेश करना, विहारी साधु होजाना, ब्राह्मणोकी सेवा आदि कोई वचा नही सकते।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

असुर सुर पतीकी जो विभूती छुड़ावे।
मानवको हरने खेद नहि काल लावे ॥
पर्वतकी चोटी जो पवन डगमगावे।
गृह शिखरध्वजाको खेद विन सो उड़ावे ॥१०८॥

उत्थानिका—आगे जगतके पदार्थोंकी चञ्चलताको दिखाते हैं—

द्रुतविलंवित छन्द।

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्रये
॥१०९॥

अन्वयार्थ—(सकललोकमनोहरणक्षमाः) सर्व लोगोंके मनको हरण करनेमे समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पदः) इन्द्रियोंकी युवानी व जीवन व सम्पत्तियें (कमलपत्रपयोलवचंचलाः) कमलके पत्तेपर पडे हुए पानीकी बूंदकी तरह चंचल हैं (जगत्रये) तीनोंह लोकमें (किमपि स्थिरं न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है।

भावार्थ—यहाँ पर यह बताया गया है कि संसारमें हरएक अवस्था नाशवंत है। जिन महापुरुषोंकी इंद्रियोंकी रचना ऐसी सुन्दर होती है जो तीन लोकके प्राणियोंके मनको हरण करसके व जिनका जीवन अनेक सांसारिक सुखोंसे पूर्ण होता है व जिनके पास चक्रवर्तीकीभी सम्पदा होती है ऐसे २ प्राणी इतनी जल्दी नष्ट होजाते हैं जैसे कमलके पत्ते पर पड़ी हुई पानीकी बूंद गिर जाती है। संसारके सर्व पदार्थोंको चंचल समझ कर किसीसे भी मोह करना उचित नहीं है।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेत्र सकलाः ।
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेपि गमिताः ॥
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटीक्रमकृता ।
न पश्यन्तोप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः ॥३३७॥

भावार्थ—जिनसे हम पैदा हुए थे वे सब तो मर चुके, व जिनके साथ हम बढ़े थे वे भी वियोगको प्राप्त होगए, अब हमारा मरण होनेवाला है। जो दीन हैं वे ऐसा देखते हुए भी इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त नहीं होते हैं।

वास्तवमें चतुर पुरुषको संसारकी अनित्यताको ध्यानमें लेकर स्वहितमें प्रयत्न करना उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालनी छन्द ।

जगमनहरसम्पत् अक्ष यौवन स्वजीवन,
चचल हैं सारे, जिम कमलपत्र जलकण ।
इम सकल पदारथ तीन भूके अथिर हैं,
ज्ञानी ज्ञाता हो आत्महित बीच दृढ़ हैं ॥१०९॥

द्रूतविलंवित छन्द ।

वलवतो महिपाधिपवाहनो निरुनिर्लिपपतीनपहंति यः ।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रम. ।११८

अन्वयार्थ—(य)जो (वलवन्‌)वलवान(महिपाधिपवाहन.) वडे भैंसोकी सवारी करनेवाला ऐसा यमराज (निरुनिलिपपतीन्) देवोंके स्वामियोको (अपहृति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवोके गर्वको खण्डन करनेमे (कदाचन) कभी भी(श्रम.) मिहनत (न भवति) नही करनी पड़ती है ।

भावार्थ—इस श्लोकमे यह वताया गया है कि यह मरण किसीको भी छोड़ता नही है। वड़े २ वलवान देवोंके स्वामियो को क्षणमात्रमे नष्ट कर देता है तव अल्पायु धारी मानव व पशुओंकी तो वात ही क्या हैं। तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एकदिन आनेवाला है ऐसा समझ कर आत्महितके साधनमे रंचमात्र भी प्रमाद करनेकी जरूरत नही है। मरणसे कोई वच नही सकता ऐसा अमितगति महाराजने सुभाषितरत्न संदोहमे कहा है—

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया ।
लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधरा· ॥
प्रक्षोणायुपि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पदं ।
तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृतः क्षीणायुपो जीवितम् ।३००

भावार्थ—जिन तीर्थंकरोंके चरणोको इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुष अपनी कातिरूपी जलसे धोते है, जो लोक अलोकको देखनेवाले ऐसे केवल ज्ञानरूपी राज्यलक्ष्मीके धारी

हैं, ऐसे तीर्थंकर भी आयुकर्मके समाप्त होनेपर इस शरीरको छोड़कर मोक्षको चले जाते हैं तो फिर अन्य अल्पायुधारी मानवोके जीवका क्या भरोसा ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जो यम हन डाले, देव इन्द्रादिकोंको।
वह वलशालिनको दीर्घ वय धारिकोको ॥
सो मानव वर्ग जो धरैं आयु अल्पा।
हनता क्षणभरमें नाहि श्रम कोय कल्पा ॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगतमे कोई वस्तु सुखदाई नही है—

स्वजनसंगतिरेव वितापिनी भवति यौवनिका जरसा रसा।
विपदवैति सखीव च सपदम् किमति शर्मविधायिन दृश्यते ॥१११॥

अन्वयार्थ—(स्वजनसगतिः) अपने बंधुजनोंकी संगति (एव) ही (वितापिनी) उसके वियोगमे दुःख देनेवाली होजाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढ़ापेके साथ हैं। (विपत्) आपत्ति (सखी इव) सखीके समान (सपदम्) सपत्तिके पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधायि) सुख देनेवाली (किमपि) कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नही दिखलाई पडती है।

भावार्थ—इस जगतमे जिस जिस पदार्थका संयोग है वह वियोगके साथ है। आज जिन स्त्री पुत्र मित्रोके साथमे कुछ साता मालूम होती है यदि उनका वियोग होजावे या वे अपने अनुकूल वर्तन न करें तो ये ही पदार्थ दुखदाई भासते हैं व उनके निमित्तसे नित्य सताप रहता है। जिस युवानीके मदमे चूर होकर हम शरीरके बलका व रूपका अहंकार करते है वह जवानी

मात्र थोडे दिन रहनेवाली है, एकदम बुढापा आजावेगा तब युवानीका पता ही नही चलेगा । आज धनसंपदा राज्यविभूति दिखलाई पडती है,यकायक विघ्न आजाते है राज्य छूटजाता है, सम्पदाएं चलीजाती हैं संपत्तिवान विपत्तियोमे फंस जाता है,जिन पदार्थसे यह मोही जीव सुख मानता है वे ही पदार्थ नाशवंत हैं व विगड जाते है, वस इस मोही जीवको महान दु.खोका सामना करना पड जाता है । जगतका ऐसा क्षणभंगुर स्वभाव जानकर ज्ञानी जीवको निरंतर आत्मकल्याणके सन्मुख रहना चाहिये ।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपचाशत्मे कहते है—

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रकायते निश्चितं ।
सर्वव्याधिविवर्जितेपि तरुणो आशु क्षयं गच्छति ॥
अन्यै. किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयो. ।
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मद. ४८

भावार्थ—राजा भी क्षणमात्रमे निश्चयसे रक होजाता है । सर्व रोगोसे रहित जवान शरीर भी शीघ्र नाशको प्राप्त होजाता है लक्ष्मी और जीतव्य ये दोनो पदार्थ औरोकी अपेक्षा जगतमे सार है । जब इन ही दोनोकी ऐसी चचल हालत है तब विद्वान पुरुष और किस पदार्थमे मद करे ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

संगति निज जनकी, तापकारी वखानी ।
तनकी तरुणाई, वृद्धपन माहि सानी ॥
आपद जा घेरे, मित्रवत् संपदाको ।
सुखप्रद जगवस्तू, दीखती नहि कदाको ॥११२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मरणसे कोई भी रक्षा करनेवाला नही है—

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुर भवभृत प्रभवति न रक्षितुन् ११२

अन्वयार्थ—(सचिवमत्रिपदातिपुरोहिता.) दीवान, मत्री, पैदल, पुरोहित तथा(त्रिदशखेचरदैत्यपुरदरा) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) जमराजरूपी योद्धासे ।पुरस्कृतम्। पकडे हुए(आतुर) दु·खी (भवभृत) संसारी प्राणीको (रक्षितुम्) रक्षा करनेको(न प्रभवंति) समर्थ नही होते हैं।

भावार्थ--यहापर आचार्य कहते हैं कि जव मरणका समय आजाता है तव कोई किसीको वचा नही सकता है। जिन सम्राटों के बडे२ मत्री, दीवान, पैदल, सिपाही व परोहितादि होते हैं व जिनके आधीन देव, विद्याधर, व्यंतरादि होतं हैं व इन्द्र भी जिन की भक्ति करता है ऐसे चक्रवर्ती तीर्थंकरादि भी मरणके समय पर इस शरीरमे फिर नही रह सकते हैं। जव महान पुरुषोकी यह दशा है तव हम सवको तो कालके मुखमे वैठा हुआ ही अपने को समझना चाहिये, ऐसा निश्चय कर आत्मकल्याणमे जरा भी प्रमाद न करना चाहिये ।

पद्मनदि मुनि अनित्यपचाशत्में कहते हैं--

कालेन प्रलयं व्रजति नियतं तेपीद्रचन्द्राादय· ।
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो शक्तेरदीर्घायुष. ॥
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोह मुधा मा कृथाः ।
काल. क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम्।५१

भावार्थ--जब इन्द्र, चंद्र आदि भी मरणके द्वारा निश्चयसे नाश किये जाते हैं तब उनके मुकाबलेमे कीटके समान अल्पायु-वाले अन्य जनकी तो बात ही क्या है? इसलिये अपने किसी प्रियके

मरण हो जानेपर वृथा मोह नही करना चाहिये। इस जगतमे तू ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढूढ जिससे काल अपना दाव न कर सके।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

सेनापति मन्त्री, अर पुरोहित सिपाही ।
सुर असुर खगाधिप, इन्द्र वहुवल धराई ॥
जव यमभट जनको, लेत है दाव आई ।
दु.खित हो प्राणी, नहि सकें तव वचाई ॥११२

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि इस संसारमे कोई अपना रक्षक नही है—

बलकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते
यदि जनो न तदा परत. कथम् ।
यदि निहन्ति शिशुं जननी हिता
न परमस्ति तदा शरणं ध्रुवम् ॥११३॥

अन्वयार्थ--(यदि)यदि (जन:) यह मानव (वलकृत:) शरीरको वलदाई (अशनत: अपि) भोजनसे ही (विपद्यते) विपत्तिमें आजाते है, रोगी होजाते है तथा मरण कर जाते हैं (तदा) तव (परत.)दूसरे विष आदि पदार्थोसे कथम्,किस तरह वच सकते है ? (यदि)जव(हिता) हितकारी (जननी) माता (शिशु) वच्चेको (निहंति)मार डालती है(तदा) तव (ध्रुवं) निश्चयसे (शरणं) शरणामें रखनेवाला .पर न अस्ति)दूसरा कोई नही है ।

भावार्थ--इस ससारमे कोई जीव किसीको मरणसे वचाने वाला नही है। जिस भोजनसे शरीरकी रक्षा होती है व वलदाई होता है वही भोजन रोगी प्राणीके लिए विपमज्वर पैदा करके उसके प्राणोंका अन्त करनेवाला होजाता है। इस जगतमे कोई

कोई पशु ऐसे है कि जिनको जननेवाली माता ही उनका भक्षण करलेती है जहां माता ही बच्चेको खालेवे वहा और कौन वचाने वाला है ?

ऐसा जानकर मानवको आत्मानुभवके भीतर शरण लेनी चाहिये। यही इस जीवका सच्चा रक्षक है यही शुभ गतिमें व परम्परा मोक्षमे इस जीवको पहुंचानेवाला है। वास्तवमें इस जगतमे कोई भी तीव्र कर्मके उदयको टाल नही सकता है।

पद्मनंद मुनि अनित्य पंचाशत्मे कहते हैं—

कि देव किमु देवता किमु गदो विद्यास्ति कि कि मणिः।
किं मत्र' किमुताश्रय किमु सुहृत् कि वा सुगंधोस्ति सः ॥
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतय सत्यत्र लोकत्रये ।
यै सर्वेरपि देहिन स्वसमये कर्मोदित वार्यंते ॥३२॥

भावार्थ--न कोई देव है न कोई देवी है, न वैद्य है न कोई विद्या है, न कोई मणि है न मत्र है, न कोई आश्रय है न कोई मित्र है, न कोई गध है न कोई और राजा आदि इस तीन लोक मे है जो प्राणियोके उदयमे आए हुए कर्मको रोक सके।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

बलप्रद भोजन भी, प्राणिगण नाश करता ।
तब विष फल खाना, क्यों नही मर्ण करता ॥
हितकारी माता, बाल अपना हने है ।
कौन फिर इस जगतमे, शर्ण जिय राखले है ॥११३॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि इस जीवको अपनी करणीका फल अकेला ही भोगना पड़ता है—

विविधसग्रहकल्मषमगिनो विदधतेगकुटुंवकहेतवे ।
अनुभवत्यसुख पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्हम् ॥११४॥

अन्वयार्थ—(अगिनः) यह शरीरधारी प्राणी (अगकुटुम्बकहेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बके (विविधसंग्रहकल्मषं) नानाप्रकारके पापके सचयको (विदधते) करते रहते है (पुन.) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवास) नरकके स्थानमे (उपेत्य) जाकरके (सुदुस्सह) अति दू सह (असुखं) दु खको (अनुभवति) भोगते हैं।

भावार्थ—ये संसारी गृहस्थ अपने स्त्री पुत्रादिके मोहमे ऐसे अन्धे होजाते है कि उनके मोहमे और अपने शरीरके मोह मे पड़कर नाना प्रकारके विषयोंको भोगनेके अभिप्रायसे व धन के संचय करनेके लिए नीतिको उल्लघकर व वहुतसे परिग्रहको संचय करते हुए वहुतसा पाप वाध लेते है। जिस कुटुम्बके लिए मोही जीव पापका सचय करते हैं वह कुटुम्ब उस पापके फलके भोगनेमे सहकारी नही होता है। यह जीव अकेला ही उस पापके फलसे नर्कमे जाता है और वहा असहनीय दु खको वहुत काल पर्यन्त भोगता रहता है। वास्तवमे हरएक जीव अपने अपने भावोका जिम्मेदार है। अपने भावोंसे जो पाप वाँवता है उसका फल उसहीको स्वयं भोगना पड़ता है ऐसा समझकर ज्ञानवानो को उचित है कि कुटुम्वके मोहमे पडकर उसके लिए अन्याय व अनर्थ न करे, अपनेको नीति व धर्म के मार्गसे विचलित न करे, स्वात्महित करते हुए परहित करना उचित है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

रे पापिष्ठातिदुष्टव्यसनगतमते निंद्यकर्मप्रशक्त।
न्यायान्यानयाभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गवुद्धे॥

किं किं दुःखं न यातो विषयवशगतो येन जीवो विषह्यं ।
त्वं तेनैनोऽतिवर्त्यं प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ।४१८।

भावार्थ—अरे पापी, अति दुष्ट, द्यूतादि व्यसनोमे बुद्धिको लगानेवाला, दया रहित, सच्चे मार्गसे बुद्धिको हटानेवाला, न्याय व अन्यायसे अनजान! तूने इन्द्रियोके विषयोके वशमें पड करके क्या क्या दुःख नही सहन किये है, अब तू इन पापोसे अच्छी तरह मुंह मोड़ और अपना मन जैनतत्त्वमे धारण कर।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

निज तनके काजे या कुटुम्बार्थ प्राणी ।
करत विविध कर्म पाप बाधत अमानी ॥
एकाकी जावे नर्कमें दुख बढावे ।
कोई नहि साथी मूढ आपी ठगावे ॥११४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जब आत्माके साथ यह शरीर ही नही जा सकता है तब अन्य पदार्थ कैसे साथ जावेगे—

वसनवाहनभोजनमंदिरैः सुखकरैश्चिरवासमुपासितम् ।
व्रजति यत्र समं न कलेवरं किमपरं बत तत्र गमिष्यति ।११५

अन्वयार्थ—(सुखकरैः) सुखदाई (वसनवाहनभोजनमंदिरैः) कपडे, सवारी, भोजन तथा मकानोके द्वारा (चिरवासम्) दीर्घकालवास करके (उपासितम्) सेवन किया हुआ (कलेवरं) यह शरीर (यत्र) जहां (समं) साथ (न व्रजति) नही जाता है (तत्र) वहा (बत) खेदकी बात है (अपरं किं) दूसरा क्या (गमिष्यति) साथ जावेगा ?

भावार्थ—जब मरण आजाता है तव इस जीवको अकेला ही जाना पड़ता है। इस शरीरको तरह तरहके भोगोसे तृप्त

किया, मनोहर वस्त्रोसे सज्जित किया, नाना प्रकार हाथी घोडे पालकी विमानादि सवारियोपर आरूढ किया, हीरे जवाहरातसे जडे हुए सुवर्णके मकानोमे विठाया व सुलाया। इस तरह दीर्घ कालतक इसकी सेवा की गई तौ भी इस कृतघ्नीने मरते समय साथ न दिया तव स्त्री, पुत्र, मित्र भाई, वन्धु, सेना नौकर आदि अपना साथ कैसे दे सकते हैं ? ये तो विलकुल ही अलग है। ऐसा जान ज्ञानी जीवको किसीसे भी मोह नही करना चाहिए। आपही अपनेको अपने हित अहितका जिम्मेदार समझकर सदा ही आत्महितमे लवलीन होना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं –

एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना ।
निस्त्रिंशेनसमस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना ॥
सद्रत्नत्रयगातमार्गणगणं गृह्णन्ति यच्छिदये ।
सन्त.शांतधियो जिनेश्वरतप.साम्राज्यलक्ष्मीश्रिता ।३१८।

भावार्थ– इस तरह सर्व जगतको अतुल वीर्यधारी, निर्दई व सर्व प्राणियोको नाश करनेवाले मरण द्वारा ग्रसित देखकर शान्त परिणामी व जिनेन्द्रकथित तपकी राज्यलक्ष्मीका आश्रय करनेवाले सन्त जन उस मरणके नाशके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई रत्नत्रय धर्मके तीक्ष्ण वाणों को ग्रहण करते है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जिस तनकी सेवा, काल वहु खूब कीनो ।
सुखकर मंदिर रख, वस्त्र वाहन नवीनो ।
भोजन इष्ट दे, साथ सो भी न जावे ।
फिर जग है कोजन, सग अपना निभावे ॥११५॥

जिंदगी पूरी होती चली जाती है। मरण अचानक आनेवाला है। शरीरकी चमक दमक घट रही है। जवानी बीत रही है, बुढ़ापा आरहा है तौ भी धर्मकी ओर बुद्धि नहीं लगाता है। आत्माकी परलोकमें कुगति न हो इसकी चिंता नहीं करता है। आत्मानुभव रूपी परमोत्तम कार्यको नहीं करता है, आत्मानंद का विलास नहीं लेता है। वास्तवमें जिसके भावोंमें तीव्रमिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायका उदय होता है उसकी दशा ऐसी ही भयानक होजाती है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो ।
गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा ।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो ।
रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥१२७॥

भावार्थ—जैसे निर्मल पानी धूलसहित तुम्बीमें प्राप्त होकर मैला होजाता है वैसे जिसका आत्मा दुखदाई मिथ्यादर्शनरूपी कर्मकी रजसे गाढ़ छाया गया है उसके भीतर दया, संयम, ध्यान, तप, व्रत आदि ये सर्व गुण बिलकुल नहीं पाए जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जीवन बीते है, मरण आही रहा है ।
धृति मन खिरती है, वृद्धपन बढ़ रहा है ॥
जो मोह मिथ्यामें, वश पड़ा दीन नर है ।
सो भूले हितको, आत्मनें बेखबर है ॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इंद्रियोंके विषयोंमें जो अंधा है वह अपना नाश निकट आनेपर भी धर्मसे प्रेम नहीं करता है-

जननमृत्युजरानलदीपितं
जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममति विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जन. ॥११८॥

अन्वयार्थ—(सकल) सर्व लोग (अपि)अवश्य (विलोकते) देखरहे हैं कि (इदंजगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपित) जन्म, मरण व वुढापा इन अग्नियोसे वरावर जल रहा है (तदपि) तौभी (रत्नमना विषयाकुलित जन) विषयोकी चाहमे घवडाया हुआ मनुष्य मनको उनमे भाता हुआ (धर्म-मति) धर्ममे वुद्धिको (नो विदधाति) नही लगाता है।

भावार्थ—आचार्यने प्रगट किया है कि जो मानव इद्रियोके विषयोका गुलाम होजाता है वह अपने मनको उनहीकी मूर्तिमे रंजायमान किया करता है। ऐसा होकर इस बातको भूल जाता है कि मुझे धर्म भी साधन करना जरूरी है। वह यह देखता भी है कि जगतमे कोई मानव जन्मते हैं, कोई बूढे होते है, कोई मरते हैं अर्थात् कोई भी थिर नही रह सकता है तथापि अपने सम्वन्धमे विचार नही करता है कि मुझे शीघ्र मर जाना होगा। आचार्य इस वुद्धिपर खेद प्रगट करते हुए प्रेरणा करते हैं कि वुद्धिमानको इन विषयोके मोहमे अध होकर अपना आत्महित न भुलाना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि ।
सम्यक् स्वान्त पुनीहि व्यसनकुसुमितं कामवृक्ष लुनीहि ॥
पापे वुद्धि धुनीहि प्रशमयमदमाञ्शिण्ढि पिण्ढि प्रमाद ।
छिन्धि क्रोध विभिन्दि प्रचुरमदगिरिस्तेऽस्ति चेत्मुक्तिवाँछा ।४१४

भावार्थ—हे जीव ! यदि तुझको मुक्तिकी इच्छा है तो तू अपने चित्तको धर्ममें धारण कर शास्त्र मे कही हुई विधिको भक्तिसे पालन कर, अपने भीतर सम्यग्दर्शनसे पवित्रता पैदाकर आपत्तिरूपी फूलोसे लहराते हुए कामदेवके वृक्षको उखाड़के फेंकदे, पापमे बुद्धिको न लेजा, शान्ति, यम, सयमको पुष्टकर, प्रमादको छोड, क्रोधको नष्ट कर, तथा वड़े भारी मानके पर्वतको तोडदे ।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

यह सब जग जलता, मूर्ख जन देखता है ।
जनम जरा मरणं अग्निमय फैलता है ॥
तदपि विषय लोभी अंध मन हो रहा है ।
नहि सेवै धर्म पापको वोरहा है ॥११८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि गृहस्थका वास छोडनेके ही योग्य है ।

मालिनी वृत्तम् ।

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरंतम् ।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही ॥
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ॥११९॥

अन्वयार्थ—(शुद्धबोधः अपि गेही) शुद्ध ज्ञानको अर्थात् समग्ज्ञानको रखनेवाला गृहस्थ भी (क्वचन) किसी जगह तो (धर्मं) धर्मको (क्व) कही (दुरंतम् अधर्म) भयानक अधर्मको (क्वचित्) कही (अनेकं उभय) अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनोको (भजति) सेवन करता है (इति) इसलिए (गृहवास)

गृहस्थमे रहना (कथम्) किसतरह (मलानाम्) पापके मैलोको (शुद्धिकारी) शुद्ध करनेवाला हो सकता है (इति) ऐसा समझकर (विमलमनस्कै) निर्मल मनवाले महात्माओके द्वारा (स) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनोसे ही (त्यज्यते) छोड दिया जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने यह स्पष्टपने दिखला दिया है कि कोई भी मानव गृहस्थकी कीचडमे फँसा हुआ कर्मोसे मुक्त नही हो सकता है। यहा तक कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी व तान ज्ञानके धारी तीर्थंकरको भी गृहवास छोड़कर निर्ग्रन्थ होना पड़ता है। और बिलकुल निर्ममत्व होकर निजात्मानुभवका आनन्द लेना पडता है—शुद्ध वीतराग भावोमे रमण करना पड़ता है तब कही शुक्लध्यान जगता है जो चारो घातिया कर्मोका नाशकर केवलज्ञान पैदा कर देता है। तब कोई सामान्य मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यो न हो गृहवाससे कर्ममलसे मुक्त नही हो सकता। क्योकि गृहस्थीको धर्म पुरुषार्थके सिवाय अर्थ और काम पुरुषार्थकी भी सिद्धि करनी पड़नी है। अर्थ पुरुषार्थके लिए उनको धन कमानेके लिए बहुत आरम्भ व व्यवसाय करना पडना है जिसमे हिंसाजनित बहुत अधर्म करना पडता है। काम पुरुषार्थमे इद्रियोको तृप्त करनेके लिए पाचो इंद्रियोके भोगो को भी भोगता है। इसमे भी पापका ही सचय करता है कभी२ व्यवहार धर्मके ऐसा भी काम करता है जिससे पुण्य व पाप दोनो बधते हैं जैसे-धर्मस्थानको बनवाना, पूजा प्रतिष्ठाका आरम्भ कराना। जहातक पापोका बिलकुल सवर न हो वहाँ तक कर्मकी निर्जरा होना सभव नही है। गृहस्थको गृह सम्बन्धी आडम्बरमे सम्यग्दृष्टी भी क्यो न हो कुछ पापका सचय

करना ही पड़ता है। अर्थ व काम पुरुषार्थमें रागद्वेपकी उत्कटता होती ही है। इसलिए जो साधुजन अर्थ व काम पुरुषार्थको छोड़कर मात्र आरम्भ व परिग्रहसे रहित होनेके कारणसे पापके संचयसे बचते हैं उन्हीको गृहकी आकुलताएं नही सताती हैं वे ही निराकुल हो आत्मध्यान करते व स्वाध्याय आदिमें लीन रहते हैं। उनके ही परिणामोंकी बढ़ती हुई शुद्धता होती रहती है। इसलिए जो पूर्णपने आत्मकल्याण करना चाहे उनके लिए यही उचित है कि गृहवाससे उदास हो वनकी सेवा करें। वास्तवमें गृहादि परिग्रहका त्याग ही ध्यानकी सिद्धिका साधन है।

श्रीपद्मनंदि मुनि यतिधर्ममें कहते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।
यदीन्द्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा ॥
स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदीन्द्रजालेपि च ॥५६॥

भावार्थ—यदि परिग्रहधारी गृहस्थोको मोक्षकी प्राप्ति होजावे तो मानना पड़ेगा कि अग्नि ठंडी होजायगी। यदि इंद्रियोके भोगोसे सच्चा सुख होता हो तो मानना पड़ेगा कि काल कूट विष भी अमृत हो जायगा। यदि यह शरीर सदा स्थिर माना जायगा तो आकाशमें बिजलीको भी स्थिर मानना होगा यदि संसारमें रमणीयता मानी जायगी तो इन्द्रजालके खेलमे भी रमणीयता माननी पड़ेगी।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

ज्ञानी भी गेही, कभी शुभ काम करता।
कभी करता अशुभ, कभी दोऊ हि करता॥
तब घरमे रहना, किस तरह मैल धोवे।
इम लख शुचि मन धर, त्याग घर आत्म जोवे॥११६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो आत्माके सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्मस्वभावका नित्य चिन्तवन करना उचित है—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलामलः शश्वदात्मानपायः ।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टावाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः।१२०।

अन्वयार्थ—(दक्षैः) जो चतुर पुरुष (सकोचिताक्षैः) अपनी इंद्रियोको वशमे रखनेवाले हैं, (भवमृतिचकितैः) जन्म मरणसे भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षैः) ससारके भ्रमणसे उदास हैं उनको (नष्टावाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) बाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुखकी प्राप्ति के लिए (शश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञः) सर्वको जाननेवाला (सर्वदर्शी) सर्वको देखनेवाला (भवमरणजरातंकशोकव्यतीतः) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषोंसे रहित (लब्धात्मीयस्वभावः) अपने स्वभावको प्राप्त किये हुए (क्षतसकलमलः) सर्व कर्ममलोसे रहित (अनपायः) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्माको ही (चिन्तनीयः) ध्यानमे ध्याना योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने इस तत्त्वभावनाका सार बता दिया है कि जो भव्यजीव अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके आत्मीक सच्चे सुखको भोगना चाहें जो सुख स्थिर है, बाधारहित है, उनको उचित है कि वे पहले अपनी पाँचो इंद्रियो को वश करें, क्योकि इंद्रियोकी चाहनाएं ध्यानमें बाधक होती हैं फिर वह मनमें दया लावें कि मेरा आत्मा इस संसार में बारबार शरीर धारणकर जन्ममरणके कष्ट न उठावें।

इसीलिये उसके मनमे ससार यात्रासे उदासीनता हो व स्वाधी-नताका परम प्रेम हो। ऐसा ज्ञानी जीव निश्चिन्त होकर पर-मात्माका या निश्चयनयसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप ध्यान में लेकर बारबार चिन्तवन करे। निश्चयसे सिद्ध परमात्मामें और अपने आत्मामे कोई तरहका अन्तर नही है--दोनोका स्व-भाव समान है। यह आत्मा निश्चयसे पूर्ण ज्ञान दर्शन गुणका धारी है, इसमे कर्मोंके द्वारा होनेवाले राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भाव व शोक व जन्म, जरा, मरण आदि अवस्थाएं नही हैं यह तो कर्म रहित शुद्ध वीतराग है, अपने असल स्व-भावमें सदा शोभायमान है। इस आत्माका आदि अन्त नही है इससे यह अविनाशी है। इस तरह ध्यानमें अपने स्वरूपको जमाकर बार बार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। जब मनकी वृत्ति परभावोसे हटकर अपने स्वरूपमें कुछ देरके लिए भी स्थिर होवेगी- स्वात्मानुभव जग जायगा उसी समय आत्मीक सुखका लाभ होगा। आत्मध्यान करनेके लिए क्या२ बाहरी साधनों की जरूरत है उसका कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधार पर आगे किया जायगा। वास्तवमें आत्मध्यानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, आत्मध्यानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंका संवर होता है, आत्मध्यानसे ही मोक्ष होता है। इस-लिए हितेच्छुको निरन्तर आत्मध्यालका अभ्यास परम निश्चि-न्त होकर करना योग्य हैं। पद्मनदि मुनिने एकत्वाशीतिमें कहा है-

यदेव चैतन्यमहं तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतोस्मि भावेन तदेकतां परम्।।७६

ज्ञेयं हि कर्मरागादि तत्कार्यं च विवेकिन॰।
उपादेय परं ज्योतिरुपयागैकलक्षणम्।।७४।।

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं पर पदम् ।
मयाराध्यं तदेवैकं तदेवैक परं महः ॥४४॥

मुमुक्षूणां तदेवैक मुक्ते पंथा न चापरः ।
आनन्दोपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४६॥

अक्षयस्याक्षयानंदमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैक पर बीज नि.श्रेयसलसत्तरो ॥५०॥

भावार्थ--जो कोई चैतन्य स्वरूप है, जो कोई जानता है, जो कोई देखता है वही मैं हूँ। वह एक उत्कृष्ट पदार्थ है इसलिये मैं निश्चयसे उसी एकके साथ एक भावपनेको प्राप्त होगया हूँ।७६।

रागादि द्रव्य कर्म और उनके कार्य रागादि भाव विवेकियोके लिये त्यागने योग्य हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणको रखनेवाली एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति ही ग्रहण करने योग्य है ॥७४॥

वही एक उत्कृष्ट तत्व है वही एक उत्कृष्ट पद है। भव्य जीवोंके लिये वही एक आराधने योग्य है। वही एक परम ज्योतिमय है ॥४४॥

मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके लिए वही एक मुक्तिका मार्ग है दूसरा नही है, उसको छोड़कर आनन्द और कही नही पाया जाता है ॥४६॥

अविनाशी मोक्षरूपी शोभायमान वृक्षकेलिए जो वृक्ष अविनाशी आनन्दरूपी महाकालके भारसे चमकता रहता है वही एक आत्मतत्त्व परम बीज है ॥५०॥

इन श्लोकोसे यही बताया है कि शुद्ध आत्माका अनुभव ही आनन्दका दातार है व स्वाधीनताका उपाय है। वही निरंतर सेवने योग्य है।

शार्दूलविक्रीडित छंद ।

जो है दक्ष स्वअक्ष रोधकर्ता, जन्मन मरण भय कर।
संसृति हरके आत्मलीन निर्मल, निर्बाध सुख रुचि धरे ॥
वे चिन्तें निज आत्मरूप निश्चय, सर्वज्ञ सब देवता।
निर्मल नित्य स्वभावरूप, रतिविन रत्नत्रयी एकता ॥१२०॥

उत्थानिका--आगे ग्रन्थकार ग्रन्थ समाप्त करके आशीर्वाद देते है-

वृतैर्विंशशतेनेति कुर्वता तत्वभावनाम् ।
सद्योमितगतेरिष्टा निर्वृ तिः क्रियते करे ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (विंशशतेन) एकसौ वीस (वृत्तै:)श्लोकोके द्वारा (तत्वभावनाम्)आत्म तत्वकी भावनाको (कुर्वता) करनेवाला(सद्यः)शीघ्र ही (अमितिगते इष्टा) सर्वज्ञको प्रिय या अमितिगति आचार्यको प्रिय ऐसी(निर्वृ तिः) मुक्तिको (करे क्रियते) अपने हाथमे प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—श्री अमितगति महाराजने इन पहले कहे हुए १२० श्लोकोसे इस तत्वभावना नामके ग्रन्थको रचा है इसको जो कोई वारम्वार अनुभव करेगा उसको अवश्य मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा आशीर्वाद आचार्यने पाठकोको दिया है। तथा आचार्यने यह भी दिखलाया है कि प्राचीनकालमें जो सर्वज्ञ हो गए हैं उन्होने भी इसी तत्वकी भावनासे मुक्ति प्राप्त की थी व मैं इसी हेतुसे तत्वकी भावना कर रहा हूँ। दोहा—

विंशति सौ श्लोकमें, तत्त्व भावना पाठ।
रचो अमितिगति सूरिने, करै भावसे पाठ ॥
सोपावै निज मुक्तिको, जिम पाई सर्वज्ञ।
'सीतल' कर्म सुकाटकें, रहै आत्म मर्मज्ञ ॥१२१॥

॥ ॐ ॥

आत्मध्यानका उपाय।

हरएक बुद्धिमान मानव स्वाधीनताप्रिय होता है और सुख व शांतिको चाहता है। आत्मा और कर्मपुद्गल इन दोनोंके परस्पर सहवाससे आत्माकी शक्तियें पूर्ण विकाशरूप नहीं हैं तथा आत्माको अपने वर्तनमें बहुतसी वाधाएँ उठानी पड़ती हैं। ससारमें इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होना कर्मोंकी ही पराधीनताका कारण है। क्रोधादि भावोंका झलकना व पूर्णज्ञानका न होना कर्मोंके उदयका ही कार्य हैं। जन्म जन्ममें भ्रमण करना, जरा व मरणके कष्ट उठाना कर्मोंका ही वेग है। इसलिए हरएक मानवका यह दृढ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मोंकी सगतिसे छूटकर स्वाधीन होजावे। कर्मोंकी संगति राग द्वेष मोहसे हुआ करती है। इसलिए हमे इन भावोंको दूर करके वीतरागता पूर्ण आत्मज्ञानके पानेका उद्योग करना चाहिए और उसके बलसे आत्माका ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यानको हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सकता है। जैनसिद्धान्तोंने मुख्य सात तत्वोंका जानना व श्रद्धान करना जरूरी बताया है। वे तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव—निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परमशांत, सुखमई, चैतन्य धातुरूप, असख्यात प्रदेशी है। इसका स्वभाव स्वाधीन आनन्दका भोग करते हुए

दीपकके समान स्वपर प्रकाशक है। ऐसा होकरके भी अनादि-कालके प्रवाह रूप कर्मोंके बंधनके कारण यह शरीरमे रहता हुआ अज्ञान और कषायकी कालिमासे अशुद्ध होरहा है। यह जीव द्रव्य अवस्थाओकी अपेक्षा तो अनित्य है परन्तु द्रव्य और गुणकी अपेक्षा नित्य है। यह स्वयं कर्म बाँधता है व स्वयं उस बंधसे छूट भी सकता है।

अजीव तत्त्व—मे पांच द्रव्य गर्भित है। पुद्गल द्रव्य जो स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप है। जो परमाणु व स्कंधके भेदोसे अनेक प्रकारसे लोकभरमे भरा है। यह स्थूल शरीर भी पुद्गलसे बना है तथा सूक्ष्म शरीर जो कर्मोका है वह भी सूक्ष्म कर्मवर्गणारूपी पुद्गलोंसे बना है। जो कुछ हमारे इद्रियोका विषय हैं वह सब पुद्गल है। बहुतसे पुद्गल ऐसे सूक्ष्म हैं जिनको हम अपनी इंद्रियोसे नही देख सकते हैं।

धर्मास्तिकाय द्रव्य—यह दूसरा अजीव द्रव्य है। यह अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है। इसका काम जीव और पुद्गलोकी हलनचलन क्रियाको होते हुए उदासीनताके साथ विना प्रेरणाके मदद देना है। जैसे मछलीको चलते हुए जल सहकारी है। विना इसके किसी जीव या पुद्गलमे कोई हलन चलन रूप क्रिया नही होसकती है।

अधर्मास्तिकाय—यह तीसरा अजीव द्रव्य है। यह भी अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है इसका काम जीव और पुद्गलोको स्वयं ठहरते हुए उनको उदासीनताके साथ विना प्रेरणाके ठहरनेमें मदद देना है। विना इसके जीव पुद्गल कभी ठहर नही सकते हैं। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरनेमें

निमित्त है।

आकाशद्रव्य—चौथा अजीव द्रव्य अमूर्तीक आकाश है जो अनन्त है व एक अखण्ड है। इसका काम सर्व द्रव्योंको अवकाश या स्थान देना है। इसीके मध्यमें तीन लोकमय यह जगत है। जगतमे ही जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल ये पांच द्रव्य हर स्थानपर पाए जाते हैं। ये पांचो ही अजीव द्रव्य जीव द्रव्यसे बिलकुल भिन्न स्वतंत्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गलका सम्बन्ध ही संसार है व इन दोनोका भिन्न २ होना ही मोक्ष है।

कालद्रव्य—यह भी पाँचवाँ अमूर्तीक अजीव द्रव्य है। इसका काम सर्व द्रव्योके पलटनेमे उदासीनतासे सहाय करना है। इस कालके अणु अलग-अलग आकाशके एकएक प्रदेशपर बैठे हुए असंख्यात प्रदेशी आकाशमें असख्यात है। लोकमे जितने द्रव्य एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थारूप होते हैं उनको नएसे पुराना करनेमें ये कालाणु निमित्त हैं।

आस्रव और बन्ध तत्त्व—ये बतलाते है कि किस तरह यह जीव कर्मोको खीचकर बांधा करता है। मन, वचन, कायके द्वारा यह संसारी जीव काम किया करता हैं। जब यह कोई क्रिया मन, वचन, कायसे करता है तब आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं उस समय चारों तरफ भरे हुए कार्माण, वर्गणारूप पुद्‌-गल खिचकर आजाते है और आत्माके कर्माण देहसे बंधको प्राप्त होजाते हैं। उनमें अनेकों आस्रव व बन्धनको बंध कहते है। रागद्वेष मोहकी यदि प्रबलता होती है तो कर्मोका बंधन बहुत कालतकके लिए होता है, यदि उनकी मंदता होती है तो बंधन थोड़े कालके लिए होता है। क्योंकि संसारी आत्माओंमें

हलनचलन व क्रोधादि कषायका होना सदा ही पाया जाता है। इसलिये सर्व ही संसारी जीव अपनी हलन चलन क्रिया व कषायके अनुसार थोड़े या बहुत कर्मोंको बांधते रहते है। जो आत्मा मुक्तिकी तरफ उद्योगी होजाता है वह कम कर्मोंको बांधता है।

संवरतत्त्व—इस तत्वमे यह बताया गया है कि कर्मोंके बंधनसे किस तरह बचा जावे। जिन२ कारणोसे कर्मोका बध होता है उनउन कारणोको छोड़ना संवर है, तब कर्मोका बंध रुक जायगा। मुख्य कारण कर्मोंसे बध होनेके चार है—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

सच्चे तत्वोको न समझकर मिथ्या तत्वोंपर श्रद्धान रखना मिथ्यात्व है। पराधीनताको अच्छा समझना और स्वाधीनता को न पहचानना मिथ्यात्व है। अतृप्तिकारी इद्रियोके विषयों को अच्छा समझना और स्वाधीन आत्मीक सुखकी रुचि न करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तृष्णा मे लवलीन रहना अविरति है। क्रोध, मान, माया, लोभके भाव करना कषाय है। मन, वचन, कायको हिलाना योग है। यदि कोई मिथ्यात्वको त्यागकर सम्यक्त भाव पैदा कर लेगा, स्वाधीनताका सच्चा श्रद्धालु हो जायगा फिर मिथ्यात्वके दोषसे जो कर्म बंधते थे उनको रोककर उनका वह संवर कर देगा।

जितना २ पॉच हिंसादि पापोको छोडता जायगा उतना २ अविरतिके द्वारा जो कर्म बंधते है उनसे बचता जायगा। साधु अवस्थामे ये पांचों पाप बिलकुल छूटजाते है तब वहा इनके कार-

चारित्रहै। निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध स्वरूपमे एकतान होजाना सम्यग्चारित्र है। निश्चयनयसे आत्माही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप एक मोक्षका मार्ग है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते है—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाण समब्भसह ॥ (द्रव्यसंग्रह)

भावार्थ—मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनो ही प्रकारके मोक्षके मार्गको आत्मध्यानमे पालेते हैं। इसलिए तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर ध्यानका भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यानमे एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रयमे एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्नत्रय भी पल ही रहा है क्योकि उसके भीतर सात तत्त्वोका सार ज्ञान व श्रद्धानमे भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पांचो पापोसे ध्यानके समय विरक्त है। और भी—

तवसुदवदवचेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हातत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होहु ॥

भावार्थ—जो आत्मा तपका साधन करता है, शास्त्रका ज्ञाता है, वह व्रती है, वही ध्यानरूपी रथको चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनोमे सदा लीन रहना चाहिए जो आत्मध्यान करना चाहे उनको तपका प्रेमी होना चाहिए, ससार विषयोंकी कामनाएँ मेटकर निज सुखके रमनका प्रेमी होना चाहिए। जो इंद्रियोके विषयोके लोलुपी हैं उनका ध्यान बडी कठिनतासे जमता है। जैसा जैसा चित्त बाहरी भोग उपभोगोंकी तरफसे हटेगा वैसा वैसा आत्मध्यान कर सकेगा।

ध्यानके अभ्यासीको शास्त्रोका ज्ञान व उनका निरन्तर मनन रहना चाहिए। शास्त्रोके द्वारा मनकी कुज्ञानसे वचकर सुज्ञान मे दृढता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वोका ज्ञान होगा उतना ही अधिक निर्मल ध्यानका अभ्यास होगा इसी तरह ध्यानके अभ्यासीको व्रती भी होना चाहिये। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एक देश त्यागी श्रावक गृहस्थ हो। अविरतिमे तिष्ठनेवालोके ध्यानका अभ्यास बहुत ही अल्प होता है। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिये ध्यानके लिये अवश्य समयको निकाल लेते है।

वही आचार्य और भी कहते हैं—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सहं इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४६॥

भावाथ—यदि चित्तको नाना प्रकारके ध्यानकी सिद्धिके लिए अपने आधीन करना चाहते हो तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थोमे मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। ध्यान करनेवालेके मन मे यह सच्चा वैराग्य अवश्य होना चाहिए कि इस लोकमें कोई पदार्थ अपना हो नही सकता। किसीको अपना मानना वडी भारी भूल है। इस प्रकार निश्चय करके अपना मोह किसी चेतन व अचेतन पदार्थपर नही रखना चाहिये। तथा ज्ञानीको आत्मीक सुखको ही सच्चा सुख मानना चाहिए। इद्रिय द्वारा पैदा होने वाले क्षणिक सुखको सुख नही मानना चाहिए। अज्ञानी प्राणी इद्रियसुखके ही कारण उन चेतन व अचेतन पदार्थोसे राग करते हैं, जो विषयसुखमें मददगार हैं व जो हानि पहुँचानेवाले चेतन व अचेतन पदार्थ है उनसे द्वेप करलेते हैं। ज्ञानी आत्मसुखका प्रेमी होकर न किसीसे राग करता है न किसीसे द्वेप करता है।

जिसका परिणाम वैराग्य युक्तहोगा वही आत्मध्यान कर सकेगा, क्योंकि ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहते हैं, आत्मरुचि व आत्मप्रेम ही चित्तको आत्मामे जोडनेका सच्चा व अचूक उपायहै। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतकमे कहते हैं—

यत्रैवाहितबुद्धिः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥

भावार्थ—जिस पदार्थको बुद्धिसे निर्णय करलिया जायगा उसी पदार्थमें श्रद्धा या रुचि जम जायगी तथा जिसमे रुचि हो जायगी उसीमे ही चित्त स्वयं लय होने लगता है व जमने लगता है। वास्तवमे ध्यानके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमको आत्मद्रव्यका, आत्माके गुणोका तथा आत्माकी पर्यायोका विश्वास हो। हमको यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि जैसा पानी मिट्टीसे जुदा निर्मल है वैसा मेरा आत्मा आठ कर्ममल, शरीर व रागादि भाव मलोसे दूर, परम निर्मल सिद्ध भगवानके समान मात्र एक ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परमवीतराग आनन्दमई पदार्थ है। मैं वास्तवमें ऐसा ही हूँ। इसी निश्चय सहित ज्ञानमें चित्तको रोकना आत्मध्यान कहलाता है।

साधारण उपाय ध्यान करनेका यह है कि हम एकांत स्थान मे जहा कोलाहल न हो जाकर बैठजावे और थोडी देर निश्चिन्त होजावे, सब कामोसे फुरसत कर लेवे और अपने आत्माको निर्मल जलके समान देखे। जैसे घड़ेमे जल भरा होता है वैसे अपने शरीरमे पुरुषाकार अपने आत्माको देखे, चुपचाप देखते रहें और अपने मनको उस आत्मरूपी जलमें डुबा दें।

जब चित्त हटने लगे तब नीचे लिखे मन्त्रोमेंसे किसी मंत्रको जपने लगें। बीच बीचमें मंत्रके अर्थको भी विचारने लगें फिर अपने मनको उसी आत्मारूपी जलमें डुबो देवें। इस तरह बार बार अभ्यास करनेसे हमारा ध्यान और सब बातोंसे हटकर एक आत्मापर ही रुक जायगा, बहुत कालके अभ्यासमे विरक्तता बढती जायगी। जैसा कहा है—

सोहमित्यात्तसंस्कार: तस्मिन् भावनया पुन:।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभतेह्यात्मनि स्थितिम्॥

भावार्थ--मैं शुद्धात्मा हूँ इस तरह बारबार विचार करता हुआ जब ऐसा सस्कार होजाता है तब उसीमे बारबार भावना करनेसे और भी दृढ़ होजाता है फिर यह अभ्यासी निश्चयसे आत्मामें थिरता प्राप्त कर लेता है।

द्रव्य संग्रहमे नीचे लिखे खास मत्र जपके लिये बताए हैं—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

भावार्थ -श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमपदके धारी पंचपरमेष्ठीको बतानेवाले नीचे लिखे मंत्रोंको व गुरुके उपदेशसे और भी मंत्रोको जपे तथा ध्यावे।

(१) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूण। ३५ अक्षरी मंत्र।

(२) अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम।
१६ अक्षरी मंत्र।

(३) अरहंत सिद्ध=६ अक्षरी मंत्र।

(४) अ सि आ उ सा=५ अक्षरी मंत्र।
(५) अरहंत=४ अक्षरी मंत्र।
(६) सिद्ध, सोहं, ॐ ह्रीं=२ अक्षरी मंत्र।
(७) ॐ=१ अक्षरी मंत्र।

अ (अरहंत)+अ (अशरीर या सिद्ध)+आ (आचार्य)+उ (उपाध्याय)+म् (मुनि या साधु) ओम् या ॐ।

ध्यानके लिये विशेष विचार।

(१) कालका विचार--ध्यान करनेके लिये प्रात.काल, मध्याह्नकाल व सायंकाल तीन समय ठीक है। छ. छः घडी हर समय ध्यानका समय है। जब सवेरा हो उससे तीन घड़ी पहलेसे तीन घडी बादतक, दो पहरको तीन घड़ी पहलेसे तीन घडी बादतक, संध्याको तीन घडी पहलेसे तीन घड़ी बादतक। एक घडी २४ मिनटकी होती हैं इसलिये छः घडी २ घंटे २४ मिनटकी हुई। यदि ध्यान छः घड़ी करना हो तो इस तरह वर्ते। यदि ४ घड़ी ही ध्यान करना हो तो दो घडी इधरसे दो घड़ी उधरतक लेले। यदि २ घडी ही करना हो तो १घडी पहलेसे १ घडी बादतक ले। यह उत्तम विधि है। मध्यम यह है कि यदि छः घड़ीसे कम करना हो तो यह ध्यानमें रक्खे कि सूर्योदय, मध्याह्न व संध्याके समय ध्यानमें बैठा हो। जघन्य यह है कि दो घड़ी या कुछ अधिक करना हो तो हर तीन समयोंमें छ घडीके समयके भीतर ध्यान कर डाले। इसके सिवाय रात्रिको भी बारह बजे या अन्य किसी भी समय ध्यान किया जासकता है।

(२) स्थानका विचार—ध्यान करनेके लिये स्थान ऐसा होना चाहिये जहाँ क्षोभ न हो, कोलाहल न हो, दुष्ट लोगोंका, वेश्याओका, स्त्रियोका, नपुंसकोका आना जाना न हो। आस पास गाना बजाना न होता हो, दुर्गंध न आती हो, न बहुत गर्मी हो, न सरदी हो, न जानवरोका भय हो, न डास मच्छरोका अधिक सचार हो, ऐसा योग्य व निराकुल स्थान ध्यानके लिये तलास करलेना चाहिये। ध्यान करते हुए विघ्न न हो ऐसा स्थान ढूढना उचित है। मुख्य व उत्तम स्थान नीचे प्रकार हो सकते हैं—(१) सिद्धक्षेत्र, (२) तीर्थंकरोके पंचकल्याणकके स्थान (३) समुद्रका तट, (४) वन, (५) पर्वतका शिखर, (६)नदीतट, (७) नगरके बाहर कोट पर, (८) नदियोके सगम पर, (९)जल के मध्य द्वीप या भूमि पर, (१०) पुराना वन,(११) स्मशानके निकट, (१२) पर्वतकी गुफा, (१३) जिन मदिर, (१४)शून्य घर, (१५) पृथ्वीकी तलहटी,(१६) वृक्षोका समूह इत्यादि। जैसा कहा है—

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसति. साध्वी ध्यानकाले विशेषत. ॥८॥

भावार्थ—जिस स्थानमे रागादि दोष शीघ्र ही दूर होजावे वही बैठना उचित है--ध्यानके समयमे तो विशेष करके वही बैठे।

(३) सथारेका विचार-निराकुल स्थानपर चटाईका आसन पाटा, पाषाणकी शिला आदि पर या मात्र भूमिपर ही ध्यान करे। जैसा कहा है—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९॥

भावार्थ--धीरवीर समाधिकी सिद्धिके लिये काष्ठका तखता, शिला, वालुरेतका स्थान या भूमि इनमेंसे किसीमें भले प्रकार स्थिर आसन जमावे ।

(४) आसनका विचार—

आसन शरीरको जमाकर रखता है इसलिए किसी न किसी आसनसे बैठकर या खड़े होकर ध्यान करना चाहिये । कहा है--

पर्यंकमर्द्धपर्यंकवज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मन. ।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्वन्धुरासनम् ॥११॥
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम् ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१२॥

भावार्थ--पर्यंक आसन, अर्द्ध पर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन. कमलासन और कायोत्सर्ग ध्यानके योग्य आसन माने हैं । जिस किसी आसनसे ध्यानी अपने मनको स्थिर कर सके उसी सुन्दर आसनको लेलेना चाहिए । इस समय काल दोष से शक्ति कम होनेसे कायोत्सर्ग और पर्यंक इन २आसनोको ठीक कहा है ।

आसन जमानेसे मन स्थिर होजाता है । कहा है—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०॥
वातातपतुषाराद्यैर्जंतुजातैरनेकशः ।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥३२॥

भावार्थ—इद्रियोको जीतनेवाला योगी आसनको जीते । जिनका आसन स्थिर होता है उनको ध्यान करते हुए खेद नही

होता है । आसनको जीतनेवाला योगी पवन धूप, पाला आदिसे तथा पशुओसे अनेक तरह पीड़ित किये जानेपर भी खेद नही मानता है ।

जो पवन पर्वतोको उड़ा दे ऐसे पवनके चलनेपर आसनसे बैठा हुवा कभी नही डिगता है । शरीरको स्थिर रखनेका बडा सुन्दर उपाय आसनका जीतना है ।

सीधे बैठना, अपने दोनो चरणोको एक दूसरेकी जाँघके ऊपर रखना, दोनो हाथ गोदमे रखना, बाएं हाथके ऊपर दाहना रखना, आंखें निश्चल रहे, उनकी सीध नाशिकाके अग्र भागपर हो । इसका मतलब यह नही है कि नाककी नोकको देखे परन्तु यदि कोई देखे तो मालूम पडे कि दृष्टि नाककी सीधपर है, दोनो होठ न बहुत खुले हो न मिले हो, मन बडा प्रसन्न हो, इस आसनको लौकिकमे पद्मासन कहते हैं । जैसे उत्तर हिन्दुस्तानमें दि० जैन मंदिरोंमे प्रतिमाका आसन होता है । जहां एक पग जांघके नीचे व दाहना पग जांघके ऊपर रहे, शेष सब बातें पद्मासनके समान हो उसको अर्द्ध पद्मासन कहते हैं । दक्षिणमें इस आसन मे मूर्तिया मिलती है । वहा इसहीको पल्यकासन कहते है । जैनबद्रीके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीने पद्मासन, पल्यंकासन व कायोत्सर्गके श्लोक इस प्रकार लिखाए थे—

समपादौ क्षितौ स्थित्वा-चोर्ध्वजानुगतौ करौ ।
प्रसार्य्य ऋजुमूर्ति. स्यात् दण्डासर्नामतीरितं ॥

भावार्थ – जहां पैरोको बराबर जमीनपर जमाया जावे, आगेके (एक दूसरेसे चार अगुलकी दूरी रहे) अपने दोनों हाथ लटके हुए

जंघा तक चले आवे व सीधी मूर्तिरूप खडा रहे उसको दंडासन व कायोत्सर्ग आसन कहा गया है ।

उत्तानवामचरणं दक्षिणोर्णि विन्यसेत् ।
उत्तानयाम्यचरणं वामोर्णि निवेसयेत् ॥
तन्मध्याधोर्ध्वगोत्तानवामवामेतरौ करौ ।
स्थित्वा निश्चलयोगेन नासाग्रमवलोकयेत् ॥
इदं पद्मासनं प्राहु. मुख्यं पूजादिकर्मसु ।

भावार्थ—बाएँ चरणको उठाकर दाहनी जांघपर रक्खे व दाहने चरणको उठाकर बाई जाँघपर धरे, उनके मध्यमे नीचे बायाँ हाथ रखके ऊपर दाहना हाथ रक्खे तथा निश्चल बैठे और नासाग्र दृष्टि हो सो पद्मासन कहा गया है । पूजा आदि कार्योंमें यह मुख्य है ।

वामपादस्य गुल्फेन याम्यपदगुल्फकं न्यसेत्,
तस्योर्ध्वाध स्थितोत्तानयामोत्तरकरोपरे ।
वामोत्तरं कर स्थित्वा नासाग्रमवलोकयेत्,
पल्यंकासनमित्याहुः सर्वपापनिवारणं ॥

भावाथ—बाएं पैरकी गुल्फ या टोहनीके साथ मिलाकर दाहने पैरकी टोहनीको बाएपगकी जांघपर रक्खे फिर गोदमें बाएं हाथके ऊपर दाहना हाथ रक्खे । नासाग्र देखे सो पल्यकासनं सर्व पाप दूर करनेवाला है ।

मल्लिषेण कृत विद्यानुवाद मंत्र शास्त्रमे लेख है कि २४ तीर्थंकर पल्यंकासन तथा कायोत्सर्गासनसे मोक्ष गए । जैसे—

ऋषभस्य वासपूज्यस्य नेमेः पल्यंकबध्नता ।
कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनां ॥

अर्थात् ऋषभदेव, वासपूज्य तथा नेमिनाथ तो पल्यंकासनसे मोक्ष गए शेष २१ जिन कायोत्सर्गसे मोक्ष गए ।

इसकालमें ध्यान करनेवालेको पद्मासन, पर्ल्यंकासन तथा कायोत्सर्ग इन तीन आसनोको काममे लेना चाहिये तथा किसी एक आसनका खूब अभ्यास करलेना चाहिये । आसन ऐसा जमावे कि देखनेवालेको चित्राम सा मालूम हो ।

पंडित जयचंदजी कहते हैं—

आसन दिढ़तें ध्यानमें, मन लागै इकतान ।
तातें आसन योगकूं, मुनि कर धारैं ध्यान ॥

ध्यान समायिकके साथ करना उचित है ।

सामायिककी विधि ।

यह विधि सामान्य व सुगम लिखी जाती है जिसको हर-एक समझकर अभ्यासमे ला सकता है ।

पहले ही मनको और कामोसे हटाकर स्वस्थ करले, वचन के बोलनेकी व कायसे अन्य काम करनेकी इच्छाको रोकले व शरीरको अशुचि व गंदगीसे साफ करले । पवित्र वस्त्र जितने कम पहने उतना ठीक है । जिसमे शरदी गर्मीकी वाधा न हो ऐसा होकर मन वचन काय शुद्धकर ठीक समयपर अर्थात् प्रातः काल, मध्यान्ह, या सायंकाल एकान्त निराकुल स्थानमें जाकर किसी आसनको विछाकर या भूमिमे ही पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके खड़ा हो क्योकि अभ्यासीके लिए पूर्व या उत्तर दिशाकी तरफ होकर ध्यान करना शास्त्रमें कहा है । यद्यपि अन्य दिशामे भी ध्यानका सर्वथा निषेध नही है । जैसा ज्ञानार्णवके इन श्लोकोसे सिद्ध होता है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताशा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु सम्प्राप्ता यमिनः शिवम् ॥२४॥

भावार्थ—ध्यानके समय ध्याताको प्रसन्नमुख रखकर पूर्व या उत्तरको मुख करना चाहिए, यह प्रशंसनीय है तथापि ज्ञान और चारित्रके धारी, जितेन्द्रिय, मानादि रहित ऐसे साधु पूर्व-कालमे अनेक अवस्थाओसे मोक्ष गए हैं, उनके दिशाका नियम नही था। पहले हाथ लटकाए हुए नौ दफे णमोकार मत्र अपने मनमे पढे, फिर मस्तक भूमिमे लगाकर नमस्कार करे। तब मनमें यह प्रतिज्ञा करले कि जबतक इस आसनसे नही हटूंगा तबतक या इतने समयतक सर्व अन्य परिग्रहका त्याग है, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय तथा चारो तरफ एक एक गज भूमिको रख-कर सब भूमिको भी त्यागता हूँ। फिर कायोत्सर्ग खडा होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मत्र पढ़कर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। दोनो हाथ जोड़कर अपने बाए से दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे। फिर उन जोड़े हुए हाथोंपर अपना मस्तक झुकावे। इसका प्रयोजन यह है कि इस तरफ जितने बंदनीय तीर्थ व धर्मस्थान व अरहन्त व साधु आदि ,हैं उनको मन वचन काय तीनो से नमस्कार करता हूँ। फिर अपने दाहने खड़ा खड़ा हाथ लटकाए हुए मुड़ जावे। इधर भी नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरो-नति करे, फिर पीछे, फिर चौथी तरफ, इसी तरह करे। पश्चात् जिधर पहले मुख करके खड़ा हुआ था उधर ही आकर बैठ जावे। पद्मासन, पल्यकासन जमाले या कायोत्सर्ग ही रहे। सबसे पहले सामायिकपाठ मनमे अर्थ बिचार करता हुआ

मदस्वरसे पढ जावे। पाठ पढ़नेसे मन सब तरफसे खिच आवेगा व तत्वकी भावना होजावेगी। इस पुस्तकमे १२० श्लोकोका बड़ा सामायिक पाठ है, जो थिरता हो तो इसीको पढ जावे। अर्थ समझ सके तो सस्कृत मात्र पढे नही तो हरएक श्लोकोमे भाषा छन्द दिए हुए हैं उन १२० भापा छन्दोको पढ जावे। यदि थिरता न हो तो छोटा सामायिक पाठ बत्तीस श्लोकोका पढ़े जो इस पुस्तकके अन्तमे सस्कृत और उसके भापा छन्द सहित दिया हुआ है। फिर णमोकार मन्त्रकी या अन्य किसी मत्रकी जाप १०८ वार एक दफे या कई दफे जपे। जाप जपने को माला भी दाहने हाथमे ले सकता है जिसको अँगूठेके पासकी उगली पर लटकावे व मत्र एक एक दाने पर पढता हुआ अंगूठेसे सरकाता जावे या हाथकी अँगुलियोसे ही जप सकता है। एक हाथमें १२ खाने है उनको पूर्णकर दूसरे हाथके एक खाने पर अँगूठा रखता रहे, इस तरह जब बाए हाथके नौ खाने पूरे हो जावें तव एक जाप होजावे। जप करते वक्त हाथोको फैलाकर काममे ले सकता है। तीसरी रीति जप करनेकी यह भी है कि एक कमल आठ पत्तोका हृदयस्थानमे बनाले, हरएक पत्तेपर वारह विन्दु रखले, बीचमे भी घेरेमे वारह विन्दु रखले तव १०८ बिन्दुओका कमल होगया। अब एक एक पत्ते को लेता हुआ बाँई तरफसे दाहनी तरफ जपता हुआ आवे या पहले पूर्व दिशाके पत्तेके १२ विन्दुपर १२ दफे मन्त्र जप जावे फिर पश्चिमके पत्तेपर, फिर दक्षिणके, फिर उत्तरके पत्तेपर जपकर पूर्व दक्षिणके कोनेके पत्तेको जपे, फिर दक्षिण पश्चिमके, फिर पश्चिम उत्तरके, फिर उत्तर पूर्वके पत्तेपर, फिर बीचके बारह विन्दुओपर जप जावे। यह मनकी जाप चित्तको अधिक एकाग्र

रखनेवाली है।

कमलकी जापका चित्र।
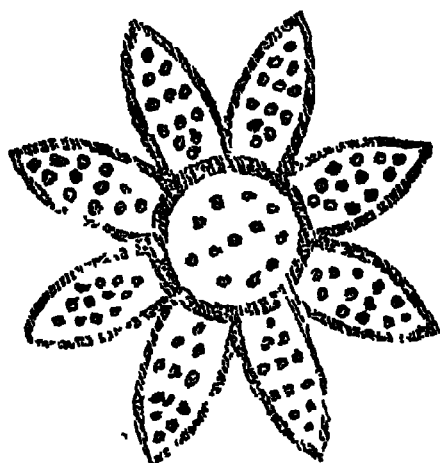
जापके पीछे ध्यानका अभ्यास करे, सुगम रीति यह है कि अपने शरीरको एक घडा माने और अपने आत्माको निर्मल गंगाजल माने और उसमे मनको बारबार डूबानेका अभ्यास करे। जब मन हटे तब ॐ या सोह या अर्ह या सिद्ध ऐसा कोई मन्त्र जपले या आत्माके शुद्ध गुणोका चिन्तवन करले, ऐसे बारबार मनको डूबानेका अभ्यास करे। दूसरी रीति अनेक हैं। श्री ज्ञानार्णवजीमे चार प्रकार ध्यान बताया है इनमेसे किसी एक रीतिको लेकर ध्यान करे। वे चार प्रकार ध्यान हैं—(१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान, (४) रूपातीत ध्यान।

इसका वर्णन आगे देते हैं। जब ध्यानकर चुके तब फिर कायोत्सर्ग खडा होजावे या खडा हो तो वैसे ही नौ दफे णमोकार मंत्र पढे और अंतिम दडवत करके सामयिक विधिको पूर्ण करे।
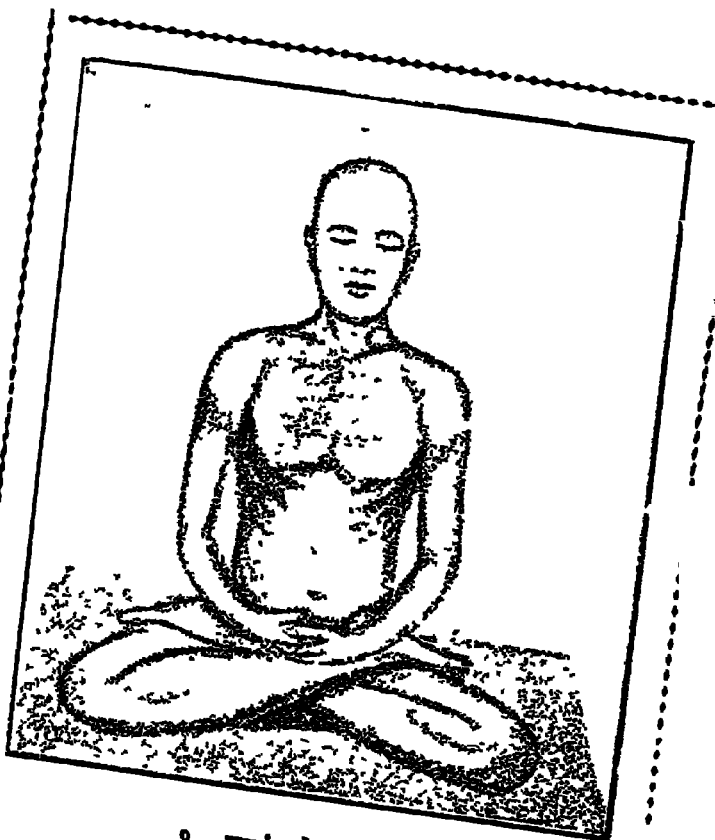
१—एकांत-सेवन विचार

एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही मेरा धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है। लेकिन वह अनादि कर्म बन्धन के कारण से चतुर्गति रूप ससार मे भ्रमण करता हुआ अनन्त काल अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है इसलिए इसको परपदार्थों से भिन्न अनन्त दर्शन ज्ञानमयी सच्चिदानंदरूप सम्यग्दर्शन है. और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है, और जो स्वरूप मे लीन हो जाना सो सम्यकचारित्र है इसलिए निश्चय से मेरा धर्म आत्म-स्वरूप है। इसको बिना पहिचाने मेरा निस्तारा नहीं होगा।
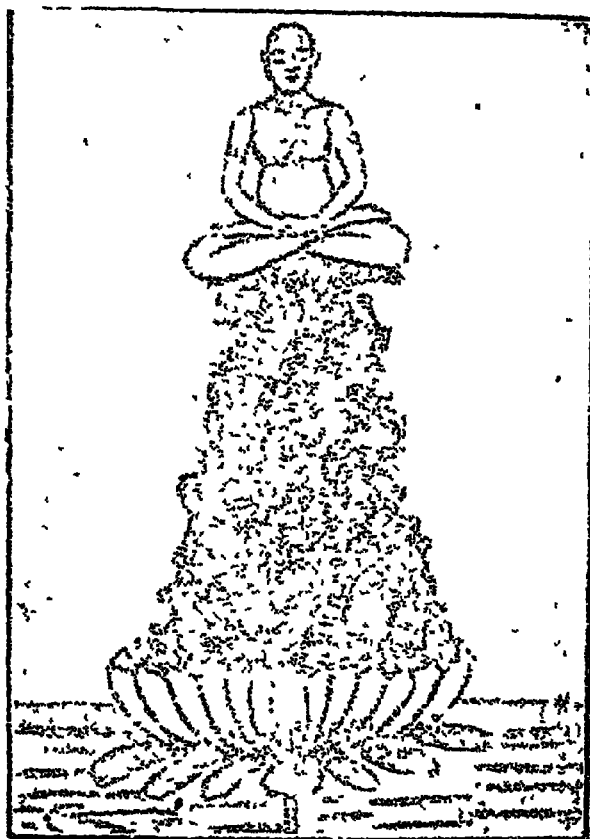
२—पृथ्वी धारणा।

मैं एकांत में बैठ कर विचारता हूं कि यह संसार समुद्र के समान जीवों से भरा है। समुद्र जल से भरा है। उसमें १००० पत्तों का कमल है। बीच में सुमेरु पर्वत समान मेरु है। उसके ऊपर एक चौकी विराजमान है। उस पर बैठा हूं और विचारता हूं कि सब सांसारिक झगड़ों से बच कर इस शरीर-पुद्गल से शुद्ध होने का उपाय करूं ताकि भव-भ्रमण से छूट जाऊं।

कमलके मध्यमें जो कर्णिका सफेद रंगकी है उसपर पीले रगका ह्रँ अक्षर लिखा हुआ सोचे। दूसरा कमल ठीक इस कमलके ऊपर औंधा नीचेकी तरफ मुख किए हुए आठ पत्तोका फैला हुआ विचार करे। इसको कुछ मटीले रगका सोचे, इसके हर-एक पत्तेपर काले रंगके लिखे हुए आठ कर्म सोचे—ज्ञाना-वरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म।

फिर नाभिके कमलके बीचमें जो ह्रँ लिखा है उसके रेफसे धुआ निकलता विचारे, फिर अग्निकी शिखा होती हुई सोचे। यह अग्निकी लौ वढती हुई ऊपरको आवे और आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगे ऐसे सोचे। फिर यह अग्निकी लौ कमल के मध्यमे छेदकर ऊपर मस्तकपर आजावे और उसकी एक लकीर वाई तरफ एक दाहनी तरफ आजावे फिर नीचेकी तरफ आकर दोनो कोनोको मिलाकर एक अग्निमई लकीर बनजावे अर्थात् अपने शरीरके बाहर तीन कोनका अग्निमडल होगया ऐसा सोचे। आगकी लकीरोका त्रिकोण (triangle) बनगया एसा विचारे।

इसकी तीनो लकीरोंमे र र र र अग्निमय लिखा हुआ विचारे अर्थात् तीनों तरफ र र अक्षरोसे ही यह अग्निमंडल बना है ऐसा सोचे। फिर इस त्रिकोणके बाहर तीन कोनोपर स्वस्तिक (साथिया) अग्निमय लिखा हुआ व भीतर तीन कोनोमें हरएक पर ॐ र्रं ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोको और बाहर इस शरीर को यह अग्निमंडल जला रहा है। जलते२ राख हो जाकर सर्व शरीर व कर्म राख होगए तब अग्नि धीरे२ शांत होगई इतना विचारना आग्नेयी धारणा है।

८—अग्नि विस्तार ।
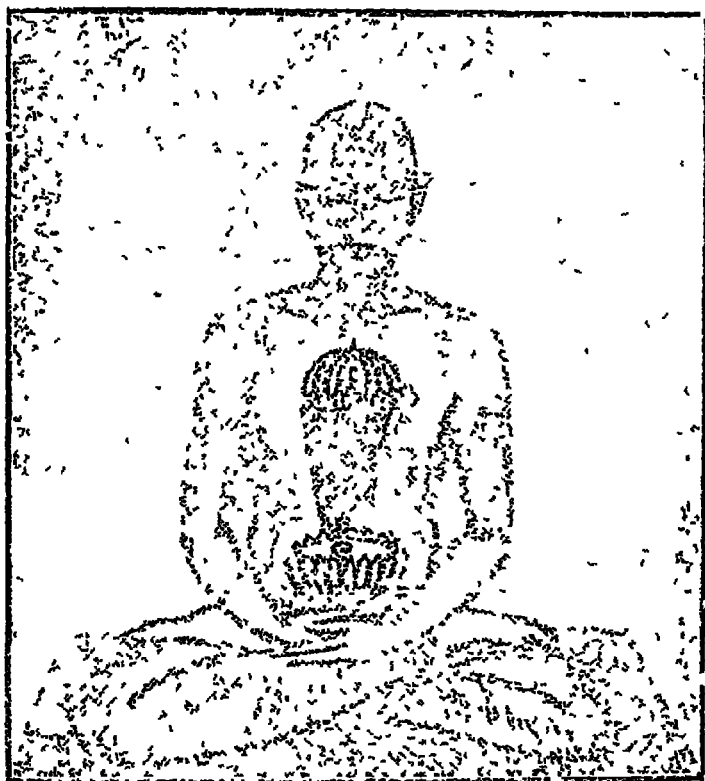
कर्मरूपी कमल को जलाती हुई अग्नि मस्तक पर जाकर तीन भाग होकर शरीर के चारों तरफ जलने लगी है। मस्तक पर और जंघाओं पर ॐ विराजमान कर विचारे की तीनों जगह से अग्नि प्रज्वलित हो रही है।
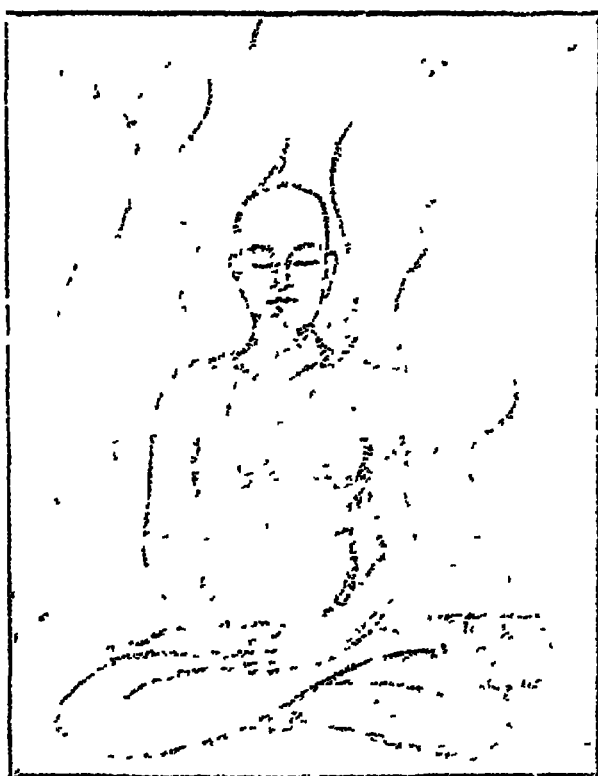
९—पूर्ण अग्नि

अन्दर की अग्नि ने कर्मरूपी कमल को भस्म कर दिया। जो शरीररूपी पुद्गल है उसको बाहर की अग्नि भस्म कर रही है। आत्मा शान्त भाव में ध्यान में लीन है।

१०—शरीर रूपी खाख की ढेरी।

कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्गल को ज्ञानमई अग्नि ने भस्म कर दिया है। आत्मा शरीर रूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए।

(३) श्वसना या वायुधारणा।

फिर वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि चारों तरफ बड़े जोरसे निर्मल पवन वह रही है व मेरे चारो तरफ वायुने एक मंडल गोल वना लिया है, उस मंडलमे आठ जगह घेरेमें 'स्वा-य स्वाय' सफेद रगका लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीरकी राखको उडा रही है व आत्माको साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणा।

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह आगए, विजली चमकने लगी, वादल गरजने लगे और खूब जोरसे पानी वरसने लगा। अपनेको वीचमें वैठा विचारे, अपने ऊपर अर्ध चन्द्राकार पानीका मण्डल विचारे तथा प प प प जलके वीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगे हुए मलको साफ कर रहा है—आत्मा विलकुल पवित्र होरहा है।

(५) तत्वरूपवती धारणा।

फिर वही ध्यानी चिंतवन करे कि अव मैं सिद्धसम सर्वज्ञ वीतराग परम निर्मल कर्म व शरीररहित मात्र चैतन्यात्मा हूँ, पुरुषाकार चैतन्य धातुकी वनी शुद्ध मूर्तिके समान हूँ, पूर्ण चन्द्र-माके समान ज्योतिरूप टंदीप्यमान हूँ।

यह पिडस्थ ध्यानका स्वरूप है। इनमेसे हरएक धारणाका क्रमसे अभ्यास करे। जव पाँचोंका अभ्यास होजावे तव हर दफे जव ध्यान करे तव इन पांचों धारणाओंके द्वारा पिडस्थ ध्यान को करे। अन्तमें देर तक शुद्ध आत्माका अनुभव करे। यह ध्यान वास्तवमें कर्मोंको जलाता है और आत्मीक आनन्दका

देनेवाला है। पंडित जयचन्दजीने कहा है—

चौपाई-या पिंडस्थ ध्यानके मांहि, देह विषें चित आतम ताहि।
चितवै पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्तको पारि ॥

(२) पदस्थ ध्यानका स्वरूप।

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥१॥

भावार्थ—पवित्र पदोंके सहारेसे जो ध्यान योगियोंके द्वारा किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। पदोंके सहारे शुद्ध आत्मा अरहंत या सिद्ध आदि या उनके गुणों का ध्यान करना सो पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थानपर पदोंको विराजमान करके उनको देखते हुए चित्तको जमाना तथा उनका स्वरूप बीच बीचमें विचारते रहना। श्रद्धान यह रखना कि हम शुद्ध होनेके लिए शुद्धात्माओंका ध्यान कररहे है। इसके लिए अनेक पदोंका ध्यान श्री ज्ञानार्णवजीमें कहा है। यहाँ कुछ मन्त्र बताए जाते हैं—

(१) वर्णमातृका मंत्र।

ध्यान करनेवाला अपनी नाभिमें जमे हुए एक सोलह पत्तों के कमलको सफेद रंगका चितवन करे इनपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन १६ स्वरोंको पीले रंगका लिखा हुआ व क्रमसे पत्तोंपर घूमता हुआ विचारे, फिर हृदय-स्थानमें चौबीस पत्तोंके कमलको सफेद रंगका विचारे। उसकी मध्यकी कर्णिकाको लेकर पच्चीस स्थानोंपर पच्चीस व्यंजन पीले रंगके लिखे—
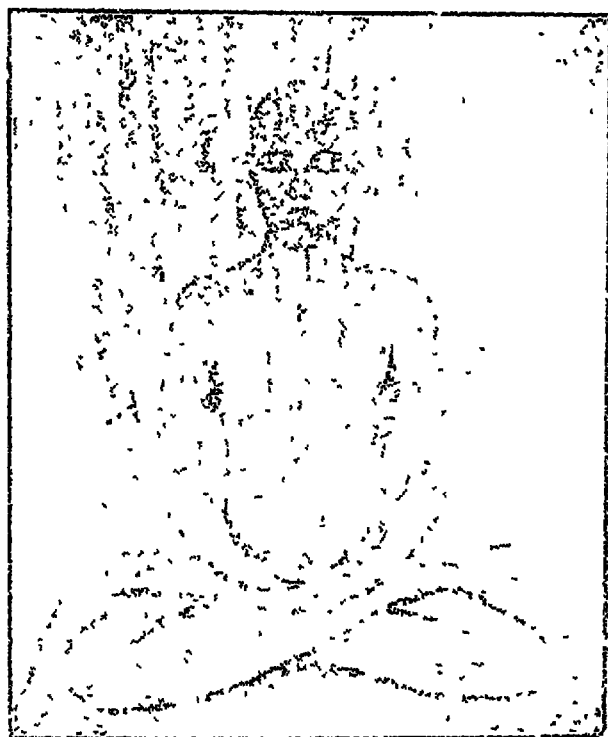
१२–जल धारणा।

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि चारों तरफ बादल घिर आये है। पानी वेग से गिर रहा है। जो कुछ कर्म रूपी और शरीर रूपी रज आत्मा मे है उसको धोकर साफ कर रहा है। आत्मा शात ध्यान में मग्न है।

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर मुखमे स्थिति आठ पत्रोंके सफेद कमल पर पीले रगोंके आठ अक्षरोंको लिखे व भ्रमण करता हुआ विचारे। वे हैं—य र ल व श ष स ह।

इस तरह तीनो कमलोंको देखता रहे व मनमे श्रद्धा रक्खे कि ये मंत्र श्रुतज्ञानके मूल अक्षर हैं, मैं जिनवाणीका ही ध्यान कररहा हूँ।

(२) मन्त्रराज—र्हं

यह साक्षात् परमात्माको व चौवीस तीर्थंकरोंको याद दिलाने वाला है। पहले इसके दोनो भौंहोंके बीच चमकता हुआ जमाकर देखें फिर वह मुखमे प्रवेश करके अमृतको झरता हुआ, फिर नेत्रोंकी पलकोंको छूता हुआ, मस्तकके केशोंपर चमकता हुआ फिर चद्रमा व सूर्यके विमानोंको छूता हुआ तथा ऊपर स्वर्गादिको लांघ कर आता है और मोक्ष स्थानमे पहुँच जाता है। इस तरह भ्रमण करता हुआ ध्यावे।

(३) प्रणव मंत्र ॐ या ओम्।

हृदयमे सफेद रंगका कमल विचार करे,उसके मध्यमें ॐको चद्रमाके समान चमकता हुआ ध्यावे। इस कमलके आठ पत्रों पर तीनपर १६ स्वर या पाँचपर २५ व्यजन लिखकर चमकता हुआ ध्यावे। इस तरह ३३ अक्षरसे वेष्टित ॐका ध्यान करे। इस चमकते हुए ॐको नीचेके स्थानोपर भी विराजमान करके ध्यान करे। श्रद्धान रक्खे कि यह मत्र अरहतसिद्ध आदि पांच परमेष्ठीका वाचक मत्र है, ध्यान करता हुआ मध्यमे इनके गुणों का भी चितवन कर सकता है।

दश स्थान—(१) मस्तक, (२) ललाट या माथा, (३) कान, (४) नेत्र, (५) नाककी नोक, (६) दोनो भौहोका मध्य भाग, (७) मुख, (८) तालु, (९) हृदय, (१०) नाभि ।

(४) णमोकार मन्त्र ।

हृदयस्थानमे चंद्रमाके समान चमकता हुआ आठ पत्रोका कमल विचारे । उसके मध्यके कर्णिकाके स्थानमें "णमो अरहंताण" को चमकता हुआ ध्यावे । फिर चार दिशाओके चार पत्रों पर पूर्वपर "णमो सिद्धाणं" पश्चिमपर "णमो आइरियाणं" उत्तरकी तरफ "णमो उवज्झायाणं" और दक्षिण की तरफ "णमो लोए सव्वसाहूणं" विराजमान करके क्रमसे ध्यावे । फिर चार कोनोके पत्तोंपर क्रमसे "सम्यग्दर्शनाय नम." "सम्यग्ज्ञानाय नमः" "सम्यक्चारित्राय नमः" "सम्यग्तपसे नमः" इन चार पदोको ध्यावे । नौ पत्तोको क्रमवार बदलता हुआ ध्यान करता रहे । बीच २ मे स्वरूपचिन्तवन करता रहे ।

(५) पंच परमेष्ठी ध्यान ।

अ, सि, आ, उ, सा, ये पाँच अक्षर पाच परमेष्ठियोके प्रथम अक्षर हैं, इनको चद्रमाके समान चमकता हुआ पाच स्थानोपर पाँच कमलोके मध्यमे स्थित ध्यावे ।

(१) नाभिकमलके मध्यमे अ ।
(२) मस्तकके कमलमे सि ।
(३) कण्ठके कमलपर आ ।
(४) हृदयके कमलपर उ ।
(५) मुखके कमलपर सा ।
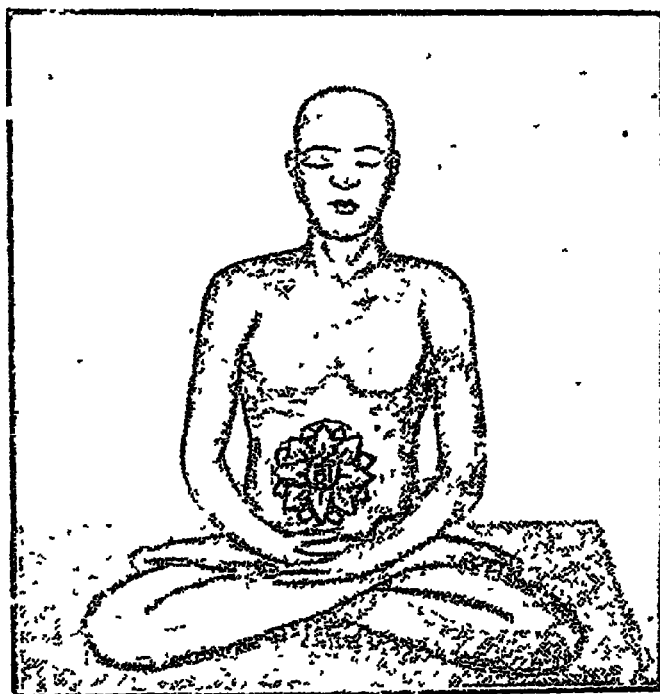
४—बिन्दु धारणा ।

मेरे नाभि-कमल मे जो खिले हुए पत्ते हैं उनमें हर एक पत्ते पर पीत्त रंग के बिन्दु है, जो हर एक पत्ते पर बारह-२ है। बीच के भाग मे भी १२ है, और बीच में ह्रीं अक्षर है। वही मूल मैं हूं। मैं बिन्दु के ऊपर दृष्टि रख कर जप करता हूं। मेरा मन्त्र है स्वाहा-२।

इस पदस्थ ध्यानके अभ्याससे भी चित्त अन्य विचारोसे रुक कर धर्मध्यानमें तल्लीन होता है। इसका अभ्यास करना परम हितकारी है। और भी बहुतसे मंत्र हैं जिनका वर्णन श्री ज्ञानार्णवसे मालूम होसकता है। पडित जयचदजी कहते है –

अक्षर पदको अर्थ रूप लो ध्यानमें।
जे ध्यावें इम मन्त्र रूप इकतानमे॥
ध्यान पदस्थ जु नाम कहो मुनिराजने।
जे यामे हों लीन लहे निज काजने॥

(३) रूपस्थ ध्यान।

अरहंत भगवानके स्वरूपमे तन्मय होकर उनका ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है। किसी एक तीर्थंकरको—ऋषभ, पार्श्व, नेमि या महावीरको विचारे। उनको नीचे प्रमाण ध्यावे।

(१) समवशरणके श्री मडपमे १२ सभाएँ है, उनमे चार प्रकारके देव, देविया, मुनि आर्यिका, मानव व पशु सवं बैठे हैं, तीन कटनी पर गंधकुटी है उसमे अंतरीक्ष चार अंगुल ऊँचे श्री अरहंत प्रभु पद्मासन विराजमान हैं।

(२) जिसका परमौदारिक शरीर कोटि सूर्यकी ज्योतिको मन्द करनेवाला है, जिसमे मास आदि सात धातुएँ नही हैं। परम शुद्ध रत्नवत् चमक रहा है।

(३) प्रभु परम शात, स्वरूप मग्न विराजमान है, जिनके सर्व शरीरमे वीतरागता झलक रही है।

(४) श्री अरहत भगवानके क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, चिंता, रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नही है।

(५) जिनके ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे अनतज्ञान प्रगट हो गया है, जिससे सर्व लोक अलोकको एक समयमे जान रहे हैं। दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे अनंतदर्शन प्रगट होगया है जिससे लोकालोकको एक समयमे देख रहे हैं। मोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन व यथाख्यात चारित्र या वीतरागत्व प्रगट होरहा है। अन्तराय कर्मके क्षयसे अनतवीर्य, अनतदान, अनत-लाभ, अनंतभोग, अनंत उपभोग प्रगट होरहे है अर्थात् नव केवल लब्धियोसे विभूषित हैं। अनतलाभ शक्तिके प्रगट होनेसे प्रभुके परमौदारिक शरीरको पुष्ट करनेवाली आहारक वर्गणाएँ स्वयं शरीरमे मिलती रहती हैं जिससे साधारण मानवोकी तरह उनको ग्रास लेकर भोजन करनेकी जरूरत नही पडती है।

(६) जिस प्रभुके आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं-(१) अति मनोहर रत्नमय सिंहासनपर अन्तरीक्षविराजमान है,(२)करोडो चद्रमाकी ज्योतिको मंद करनेवाला उनके शरीरकी प्रभाका मण्डल उनके चारों तरफ प्रकाशमान होरहा है,(३) तीन चद्रमा के समान तीन छत्र ऊपर शोभित होते हुए प्रभु तीन लोकके स्वामी हैं, ऐसा झलका रहे हैं। (४) हसके समान अति श्वेत चमरोको दोनो तरफ देवगण ढार रहे हैं, (५) देवोके द्वारा कल्पवृक्षोके मनोहर पुष्पोकी वर्षा होरही है,(६) परम रमणीक अशोकवृक्ष शोभायमान है उसके नीचे प्रभुका सिंहासन है, (७) दुंदुभि बाजोकी परम मिष्ट व गभीर ध्वनि होरही है, (८) भगवानकी दिव्यध्वनि मेघ गर्जनाके समान होरही है जिसको सर्व ही देव, मनुष्य, पशु अपनी २ भाषामे समझ रहे हैं।

(७) भगवान निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्‌चारित्ररूप होते हुए परम अद्वैत आत्मस्वभावमे तल्लीन हैं उनको इन नामोसे स्मरण करें-(१) कामनाशक, (२) अजन्मा, (३) अव्यक्त (४) अतीन्द्रिय, (५) जगतवद्य, (६) योगिगम्य, (७) महेश्वर, (८) ज्योतिर्मय, (९) अनाद्यनत, (१०) सर्वरक्षक, (११) योगीश्वर, (१२) जगद्‌गुरु, (१३) अनन्त, (१४) अच्युत, (१५) शात, (१६) तेजस्वी, (१७) सन्मति, (१८) सुगत, (१९) सिद्ध, (२०) जगतश्रेष्ठ, (२१) पितामह, (२२) महावीर, (२३) मुनिश्रेष्ठ, (२४) पवित्र, (२५) परमाक्षर, (२६) सर्वज्ञ, (२७) परमदाता, (२८) सर्वहितैषी, (२९) वर्धमान, (३०) निरामय, (३१) नित्य, (३२) अव्यय, (३३) परिपूर्ण, (३४) पुरातन, (३५) स्वयभू, (३६) हितोपदेशी, (३७) वीतराग, (३८) निरंजन, (३९) निर्मल, (४०) परमगम्भीर, (४१) परमेश्वर, (४२) परमतृप्त, (४३) परमामृतपानकर्त्ता, (४४) अव्याबाध, (४५) निष्कलक, (४६) निजानन्दी, (४७) निराकुल, (४८) निस्पृह, (४९) देवाधिदेव, (५०) महाशंकर, (५१) परमब्रह्म, (५२) परमात्मा, (५३) पुरुषोत्तम, (५४) परम बुद्ध, (५५) अमर, (५६) अशरणशरण, (५७) गुणसमुद्र, (५८) शिवनारिसम्मोही, (५९) सकल तत्वज्ञानी, (६०) आत्मज्ञ, (६१) शुक्लध्यानी, (६२) परमसम्यग्दृष्टी, (६३) तीर्थंकर, (६४) अनु-पम, (६५) अनन्तलोकावलोकन शक्तिधारी, (६६) परमपुरुषार्थी, (६७) कर्मपर्वतचूरकवज्र, (६८) विश्वज्ञाता, (६९) निरावरण, (७०) स्वरूपाशक्त, (७१) सकलागमउपदेशकर्ता, (७२) परमकृतकृत्य, (७३) परम सयमी, (७४) परमआप्त, (७५) स्नातकनिर्ग्रन्थ,

(७६) सयोगिजिन, (७७) परमनिर्जराारूढ़, (७८) परमसंवरपति, (७९) आस्रवनिर्वारक, (८०) शुद्धजीव, (८१) गणधरनायक, (८२) मुनिगणश्रेष्ठ, (८३) तत्त्ववेत्ता, (८४) आत्मरमी, (८५) मुक्तिनारिभर्ता, (८६) परमवैरागी, (८७) परमानन्दी, (८८) परमतपस्वी, (८९) परमक्षमावान, (९०) परमसत्यधर्मारूढ, (९१) परमशुचि, (९२) परमत्यागी, (९३) अद्भुतब्रह्मचारी, (९४) शुद्धोपयोगी, (९५) निरालम्ब, (९६) परमस्वतन्त्र, (९७) निर्बैर, (९८) निर्विकार, (९९) आत्मदर्शी, (१००) महाऋषि इत्यादि।

इसतरह विचार करके उनके परमवीतराग स्वरूपमें ही अपने मनको जोडदेवे। बार बार देखकर उनमे प्रेमालु होजावे। ऐसा विचारते विचारते वह द्वैतभावसे अद्वैतमे आजावे अर्थात् अपने आत्माको ही सर्वज्ञ व अरहत मानने लगजावे जैसा कहा है—

एष देवः स सर्वज्ञः सोहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात्स एव नान्योहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो देव है वही मैं हूँ, जो सर्वज्ञ है वही मैं हूँ, जो आत्मस्वरूपमे लगा है वही मैं हूँ, सर्वज्ञ देखनेवाला जो कोई है वह मैं ही हूँ, मै और कोई नही हूँ इसतरह मैं ही साक्षात् अरहन्त स्वरूप वीतराग परमात्मा हूँ ऐसी भावना करके उसीमे स्थिर होजावे। यह अरहतके स्वरूपके द्वारा निज आत्माका ध्यान है जिसको रूपस्थ ध्यान कहते हैं। पंडित जयचन्दजी कहते है—
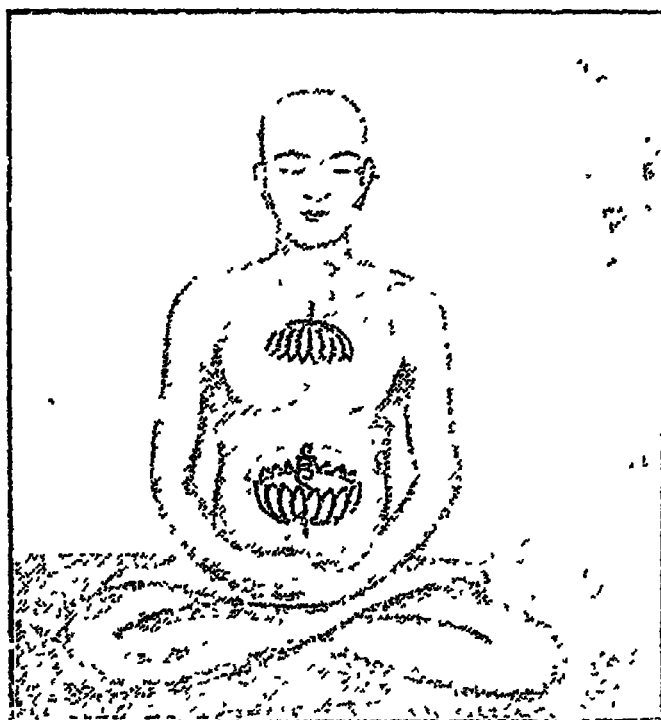
६—कर्मरूपी कमल।

मेरी आत्मा के सग आठ कर्म अनत काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढांकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान मे स्थापन कर भावना रूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हू ।

सोरठा—सर्व विभव युत जान, जे ध्यावें अरहंतकूं ।
मन वश करि सत मान, ते पावे तिस भावकूं ॥

(४) रूपातीत ध्यान ।

इस ध्यानमे सिद्धोके गुणोको विचारता हुआ अपने आपको ही सिद्ध माने, पहले सिद्धके स्वरूपको विचारेकि वह अमूर्तीक, चैतन्य, पुरुषाकार, परम कृतकृत्य, परमशात, निष्कल, परम शुद्ध, आठ कर्मरहित, परम वीतराग, चिदानन्दरूप, सम्यक्तादि आठ गुण सहित, परम निर्लेप, परम संतोषी, स्वरूपमग्न, स्फटिकमणिमयी निर्मल निरजन, निर्विकार व लोकाग्र बिराजमान हैं। फिर विचारते२ अपने आत्माको ही सिद्धरूप मानकर ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ,सिद्ध हूँ,कृतकृत्य हूँ, विश्वलोकी हूँ, निरजन हूँ, स्वभावस्थिर हूँ, परमानन्दभोगी हूँ, कर्मरहित हूँ, परमवीतरागी हूँ, परम शिव हूँ, तथा परमब्रह्म हूँ। इस तरह अपने स्वरूपमे गुप्त होजावे।

जहा एकदम सिद्ध परमात्माका ध्यान करते २ द्वैतसे अद्वैत में रम जावे, आपको ही सिद्ध सम शुद्ध भावे व उसीमे तन्मय हो जावे सो रूपातीत ध्यान है। जैसा पंडित जयचदजीने कहा है—

दोहा—सिद्ध निरंजन कर्म विन, मूरति रहित अनन्त ।
जो ध्यावै परमात्मा, सो पावै शिव सन्त ॥

इस तरह जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उसको निश्चल आसनसे होकरके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत इनमेसे चाहे जिस ध्यानको ध्यानेका अभ्यास करे। परन्तु एक ध्यान

जब अभ्याससे पूर्ण होजावे तब दूसरे प्रकारके ध्यानका अभ्यास करे । ध्यानका प्रयोजन आत्मस्थ होना है । जिसतरह यह प्रयोजन सिद्ध हो उसी तरह ध्यानीको अभ्यास करना चाहिए । ध्यानहीसे परमानन्दका लाभ होता है व कर्मोंकी निर्जरा होती है।

प्राणायामकी विधि ।

शरीरकी शुद्धि तथा मनको एकाग्र करनेके लिये प्राणायाम का अभ्यास सहायक है । यद्यपि वह ऐसा जरूरी नही है कि इसके विना आत्मध्यान न होसके इसलिये जिसने किसी प्राणायामके ज्ञाता विद्वानसे प्राणायाम नही सीखा है वह भी ज्ञान व आत्म वलसे आत्मध्यान कर सकता है । उसका मन स्वयं ही बिना किसी आकुलताके रुक जाता है ।

जैसा ज्ञानार्णवमें कहा है—

संविग्नस्य प्रशांतस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥८॥

भावार्थ—विरक्त, शांत, वीतरागी व जितेन्द्रिय योगीके लिए प्राणायामकी आवश्यकता नही है । कभी कभी इससे कष्ट भी होता है । जैसा कहा है—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्तसंभवः ।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोपि लक्षितः ॥९॥

भावार्थ—प्राणायाममें प्राण या श्वासको रोकनेसे पीडा होती है, पीडासे आर्तध्यान होना सभव है इससे तत्वज्ञानी भी अपने शुद्ध भावोके लक्ष्यसे छूट जाता है ।

१३—शुद्ध भावना

ज्ञानी आत्मा विचारता है। कि आत्मा के जो अनादि काल से आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि लगे हैं, और उन्हीं के कारण अनेक शरीर धारण कर भटक रहा था, वे सब जल कर भस्म हो गए है। और शुद्ध जल से धोकर आत्मा साफ हो गया है। अब मैं शुद्ध निर्विकार आत्मा स्फटिक के समान हूं। मैं इसी मे मग्न हू।

तथापि सहकारी कारण किसीके होसकता है ऐसा जानकर यहां कुछ वर्णन ज्ञानार्णवजीके अनुसार किया जाता है।

तीन प्रकार के प्राणायाम है। (१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक।

(१) तालुके छेदसे या बारह अंगुल पर्यंतसे पवनको खीचकर अपने शरीरमे भरना सो पूरक है।

(२) उस खीचे हुए पवनको नाभिके स्थानपर रोके, नाभि से अन्य जगह न चलने दे। जैसे घड़ेको भरते है वैसे भरे सो कुम्भक है।

(३) उसी पवनको अपने कोठेसे धीरे २ वाहर निकाले सो रेचक है।

अभ्यास करनेवालेको पवनको भीतर लेकर थामनेका फिर धीरे २ वाहर तालुके द्वारा ही निकालनेका अभ्यास करना चाहिए जो अधिक देर तक थाम सकेगा वह मनको अधिक रोक सकेगा। नाकसे काम न लेकर तालुसे ही खीचना व तालुसे ही वाहर निकालना चाहिये। इसका अभ्यास खुली हुई स्वच्छ हवामे करना उचित है, तव शरीरको वहुत लाभ होता है। जैसे नाभिके कमलमे पवनको रोका जावे वैसा हृदयकमलके वहाँ भी रोका जासकता है।

प्राणायाममे चार मडल पहचानने चाहिये—(१) पृथ्वीमंडल, (२) जलमंडल, (३) पवन मंडल, (४) अग्निमडल।

(१) पीले रंगका चौकोर पृथ्वीमंडल है। जव नाकके छेद को पवनसे भरके आठअंगुल वाहर तक पवन मंद मंद निकलता रहे तव पृथ्वीमंडलको पहचानना चाहिये। यह पवन कुछ ऊष्ण होती है।

(२) आधे चन्द्रमाके समान सफेद वर्ण जलमंडल है। इस मडलमे पवन शीघ्र नीचेकी तरफ ठढकको लिये ही १२ अंगुल बाहर तक बहती है।

(३) नीले रंगका गोल पवनमण्डल है। इसमे पवन सब तरफ बहती हुई ६ अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण व शीत दोनो तरहकी होती है।

(४) अग्निके फुलिगेके रग समान तीनकौनके आकार अग्नि मडल है। इसमे पवन ऊपरको जाता हुआ चार अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण होती है।

नाकके स्वर दो हैं, बाई तरफके श्वासको चंद्र व दाहनी तरफके श्वांसको सूर्य कहते हैं। एक मासके शुक्लपक्षकी पड़वा (प्रतिपदा), दूज व तीज इन तीन दिन प्रात.काल वामस्वर या चंद्रस्वर चलना शुभ है फिर तीन दिन प्रातःकाल दाहिना फिर तीन दिन प्रात.काल बाया इसतरह १५ दिन तक बदलता रहता है।

कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, दूज या तीजको प्रातःकाल दाहिना या सूर्य स्वर चलना शुभ है। फिर तीन तीन दिन प्रातःकाल स्वर बदलता रहे। यदि इससे विरुद्ध स्वर चलें तो अशुभ जानने चाहिए। तौ भी एक स्वर नाककी बाई तरफका या दाहिनी तरफका बराबर २।। घड़ी या एक घटे तक चलता रहता है फिर वह दूसरे दाहिनी या बाई तरफका होजाता है। किसी आचार्यने २४ घंटेमे १६ वार पवनका पलटना लिखा है।

ऊपर कहे हुए पृथ्वी आदि चारमडलोके पवनको पहचानने के लिए दूसरी रीति यह है कि अपने कानोंको दोनों हाथके

अंगूठोंसे वन्द करे, तव ही आंखोंको अंगूठेके पासकी अंगुलियों से और नाकको मध्यमा अंगुलियोंसे व मुखको शेष दो अंगुलियोंसे वन्द कर मनके द्वारा देखे तो विन्दु दिखलाई पड़ेंगे, वे यदि पीले दीखें तो पृथ्वीमण्डल समझना, यदि सफेद दीखें तो जल मण्डल समझना, यदि लाल दीखें तो अग्निमण्डल और जो काले दीखें तो पवनमण्डल समझना चाहिये। इन चार मण्डलोंमेंसे जब पृथ्वीमण्डल व जलमण्डल हो तब शुभकार्योको अर्थात् ध्यान स्वाध्यायस्वरसे निकलते हों तो कार्यको सिद्धि वतानेवाले होते हैं। अग्नि व पवनमंडल दाहिनी तरफसे वहें तो अशुभ सूचक हैं अग्नि व वायुमंडल यदि वाईं तरफसे वहें अथवापृथ्वी व जल मडल यदि दाहने तरफसे वहें तो मध्यम फलके सूचक हैं।

वाएँ स्वरको हितकर व दाहने स्वरको अहितकर वताया है। जैसे—

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाड़ी ॥४४॥

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥४३॥

भावार्थ—प्राणियोके वायाँ स्वर चलता हुआ अमृतके समान सर्व शरीरको तृप्त करता है तथा दक्षिण स्वर चलता हुआ शरीरको क्षीण करनेवाला है, प्राणियोको वायाँ स्वर हितकारी है अमृतके समान है जब कि दाहिना स्वर अनिष्टका सूचक है। यदि किसीको स्वर बदलना हो तो जो स्वर चलता हो उधरके अंगको व स्वरको दावें तो दूसरी तरफका स्वरचलने लगेगा।

स्वरोंके द्वारा हूं मंत्रके ध्यानकी विधि नीचे प्रकार है इससे स्वर शुद्ध होता है। पहले नाभिके कमलके मध्यमे हूंको चंद्रमा के समान चमकता हुआ विचारे। फिर उसीको विचारे कि दाहने स्वरसे वाहर निकाला और चमकता हुआ आकाशमें ऊपरको चला गया फिर लौटा और वाएँ स्वरसे भीतर प्रवेश करके नाभिकमलमे ठहर गया। इस तरह वारवार अभ्यास करके हूंको घुमाकर नाभिकमलमें ठहराना चाहिए।

विशेप कथन श्री ज्ञानार्णवमें ग्रन्थ देखकर जानना चाहिये। पूरक कुम्भक, रेचकका अभ्यास खुली हवामें करनेसे शरीरकी शुद्धि व मनको रोकनेका साधन मिलता है। इतना ही उपयोग समझकर किसी जानकार विद्वानकी मददसे प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये।

इस तरह ध्यानका कुछ स्वरूप मोक्षार्थी व आत्मानन्दके ध्यानसे जीवोंके हितार्थ लिखा गया है। इसे पढ़कर भव्यजीव अवश्य निरतर ध्यानका अभ्यास करो। अभ्याससे अवश्य ध्यान की सिद्धि होजाती है। यह तत्त्वभावना ग्रन्थ परम हितकारी है जो मनन करेंगे परम लाभ पावेंगे। इति।

मिती आसौज वदी ५ गुरुवार वीर सं० २४५४ विक्रम सं० १९८५ ता० ४ अक्टूबर १९२८। ब्र० सीतल।

॥ ॐ ॥

श्री अमितगतिसूरिविरचित—

सामायिक पाठ।

(हिन्दी छंदानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

हे जिनेन्द्र! सब जीवनसे हो मैत्री भाव हमारे।
दुःख दर्द पीडित प्राणिन पर करूं दया हर वारे॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अविकारे।
नही प्रेम नहिं द्वेष वहाँ विपरीत भाव जो धारे॥१॥

शरीरतः कर्त्तुमनन्तशक्ति
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

हे जिनेन्द्र! अब भिन्न करनको इस शरीरसे आतम।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमे अब तव प्रसाद परमातम।
जैसे खड्ग म्यानसे काढत अलग होत तिमि आतम॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥३॥

दुःख सुखोंमें, शत्रु मित्रनें हो समान मन मेरा।
वन मंदिरमें लाभ हानि नें हो समता का डेरा॥
सर्व जगतके थावर जंगम चेतन जड़ उलझेरा।
तिनमें ममत करूं नहिं कबहूँ छोडूं मेरा तेरा ॥३॥

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निपाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

हे मुनीश ! तव ज्ञानमयी चरणोंको हियमें ध्याऊँ।
लीन रहें, वे कीलित होवें, थिर उनको बिठलाऊँ॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊँ।
मोह अँधेरा दूर करनको रत्न दीप सम भाऊं ॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पंचेन्द्री पर्यंता।
प्राणिन को प्रमादवश होके इत उत में विचरंता॥
नाश छिन्न दुःखित कीने हों मेले कर कर अन्ता।
सो सब दुराचार कृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता ॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना

मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।

चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं

तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप हो मैंने ।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने ॥६॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं,

मनोवच.कायकषायनिर्मितम् ।

निहन्मि पापं भवदु.खकारणं

भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

मन वच काय कषायन के वश जो कुछ पाप किया है।
है संसार दुख का कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है।
चतुर वैद्य जिम मंत्र गुणो से विष सहार किया है ॥७॥

अतिक्रम यद्विमतेर्व्यतिक्रमं

जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मण:

व्यधादनाचारमपि प्रमादत:

प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

मतिभ्रष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतीक्रम करडाला।
सुआचार कर्मो में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥

हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करणको इन दोषोके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥८॥

क्षति मन.शुद्धिविधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

मन विशुद्धिमें हानि करे जो वह विकार अतिक्रम है।
शील स्वभाव उलघनकी मति सो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयो मे वर्तन होजाना अतीचार नहि कम है।
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इकदम है ॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोको।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनोको ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनों को ।
कृपा करो हे मात ! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनोको ॥१०॥

बोधिः समाधि. परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणि चिन्तितवस्तुदाने
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

बार बार वन्दूं जिन माता ! तू जीवन सुखदाई ।
मन चिन्तित वस्तूको देवे चिन्तामणि सम भाई ।।
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्धभाव इकताई ।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखोकी सिद्धी दे जिनमाई ।।११।।

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै–
यं. स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै· ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रै ,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।१२।।

सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं ।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं ।।
वेद पुराण शास्त्र पाठो मे जिनका गान करे हैं ।
परम देव मम हृदय विराजो तुझ मे भाव भरे हैं ।।१२।।

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव.,
समस्तसंसारविकारबाह्यः ।
समाधिगम्य. परमात्मसंज्ञः ।
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।१३।।

सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव सुखकारी ।
सब विकारि भावो से बाहर जिनमे हैं ससारी ।।
ध्यान-द्वार अनुभव मे आवे परमातम शुचिकारी ।
परमदेव मम हृदय विराजो भाव तुझीमे भारी ।।१३।।

निषूदते यो भवदु.खजाल,
निरीक्षते यो जगदन्तरालं ।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

सकल दु:ख ससारजाल के जिसने दूर किये हैं ।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिये हैं ॥
जो मम भीतर राजत है मुनियोने जान लिये है ।
परमदेव मम हृदय-विराजो सम रस पान किये हैं ॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीत. ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष मार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावनहारा ।
जनम मरण आदि दु.खोंसे सब दोषोसे न्यारा ॥
नहि शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा ।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहि निस्तारा ॥१५॥

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपाय,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

जिनको ससारी जीवोने अपना कर माना है ।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नही जाना है ॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है ।
परमदेव मम हियमे तिष्ठो करता कल्याना है ॥१६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१७॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगतमे है व्यापक सुखदाई।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंधसे रहित परम जिनराई॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षणमें सब विकार मिट जाई॥
परमदेव मम हियमें तिष्ठो यही भावना भाई॥१७॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै-
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥१८॥

कर्म मैलके दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते है।
जैसे सूरजकी किरणोंसे तम समूह जाते हैं॥
नित्य निरंजन एक अनेकी इम मुनिगण ध्याते हैं।
उसी देवको अपना लखकर हम शरणा आते है॥१८॥

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥१९॥

जिसमे तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी।
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा सुविकासी॥

अपने आतममे तिष्ठे हैं रहित सकल मल पासी।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली भवत्रासी ॥१६॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
त देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

जिसमे देखत ज्ञान दर्शसे सकल जगत प्रतिभासे।
भिन्न भिन्न षट्द्रव्यमयी गुण पर्ययमय समतासे ॥
शुद्ध शात शिवरूप अनादी जिन अनत फटिकासे।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुख भासे ॥२०॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषादनिद्राभयशोकचिता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च-
स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिगृह भारी।
मन विषाद निद्रा भय चिता रती शोक दु.खकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत बन अग्नी भयकारी।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥२१॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मित.
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विष:
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृणका सथारा ।
निश्चयसे नहि आसन है ये इनमे नहि कुछ मारा ॥
इन्द्रिय विपय द्वेपसे विरहित आतम प्यारा ।
ज्ञानी जीवोने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥२२॥

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च सघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

नहि सथारा कारण हैगा निज समाधिका भाई ।
नहि लोगोसे पूजा पाना सघ मेल सुखदाई ॥
रात दिवस निज आतममे तू लीन रहो गुणगाई ।
छोड़ सकल भव रूप वासना निजमे कर इकताई ॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं बिनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

मम आतम विन सकल पदारथ नहि मेरे होते हैं ।
मैं भी उनका नहि होता हूँ नहि वे सुख वोते हैं ॥
ऐसा निश्चल जान छोडके वाहर निज टोते है ।
उन सम हम नित स्वस्थ रहे ले मुक्ति कर्म खोते हैं ॥२४॥

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमान-
स्त्व दर्शनज्ञानमयो विशुद्ध. ।

एकाग्रचित. खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतममे आतम देखो हे मन परम सुहाई ।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिस ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई ।
जो साधू आपेमे रहते सच समाधि उन पाई ॥२५॥

एकः सदा शाश्वति को ममात्मा
विनिर्मल. साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वततः कर्मभवा. स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है ।
निर्मल केवल ज्ञान मयी सुख पूरण अमृतघर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है ।
नही नित्य निज कर्म उदयसे बना यह नाटकघर है ॥२६॥

यस्यास्ति नैक्य वपुषापि सार्द्ध
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
प्रथक्कृते चर्मणि रोमकूषाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नही है इस शरीरसे भाई ।
तब फिर उसके कैसे होगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहि कोई उसका नहिं संग साथी दाई ।
तनस चमडा दूर करे नहि रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥

संयोगतो दु.खमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

परके संयोगोमें पड़ तनधारी बहु दुख पाया।
इस ससार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया॥
मन वच कायासे निश्चयकर सबसे मोह छुड़ाया।
अपने आतमकी मुक्तीने मनमे चाव बढ़ाया॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं
ससारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥२९॥

इस ससार महावन भीतर पटकनके जो कारण।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो शर्म निवारण॥
रे मन! मेरे देख आतमको भिन्न परम सुखकारण।
लीन होहु परमातम माही जो भव ताप निवारण॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥३०॥

पूर्व कालमे कर्मबन्ध जसा आतमने कीना।
तसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना॥
परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सहीना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहूँ ना॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानस:
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही बाधे कर्मोंके फलको जिव पाते है।
कोई किसीको देता नाहीं ऋषिगण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मनसे जो आतम ध्याते हैं।
पर देता सुख दुख यह बुद्धी नहि चितमे लाते है ॥३१॥

यै: परमात्माऽमितगतिवन्द्य:
सर्वविविक्तो भृशमनवद्य: ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है ।
अमितगती आचारज वदे मनमें ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमे अनुभव सार करे है।
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मीको पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥

इति द्वत्रिंशतिवृत्तै:, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥

इन बत्तीस पदनसे भविजन परमातम ध्याते हैं।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममें अव्यय पद पाते हैं ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते है ।
"सीतल" सामायिकको पाकर भवदधितर जाते हैं ॥३३॥

(समाप्तोऽयं सामायिक पाठ:)

आलोचनापाठ।

दोहा—वदो पांचो परम गुरु, चौवीसों जिनराज।
करूं शुद्ध आलोचना, सिद्धकरनके काज ॥१॥

सखी छन्द (१४ मात्रा)

सुनिये जिन अरज हमारी । हम दोष किये अति भारी ॥ तिनकी अब निर्वृतकाजा । तुम शरन लही जिनराजा । २ । इक वे ते चउ इद्री वा । मनरहित सहित जे जीवा ॥ तिनकी नहि करुना धारी । निरदइ ह्व घात विचारी । ३ । समरभ समारँभ आरँभ। मनवचतन कीने प्रारँभ ॥ कृत कारित मोदन करिकं । क्रोधादि चतुष्टय धरिकं । ४ । शत आठ जु इन भेदनतै । अघ कीने पर छेदनतं ॥ तिनकी कहु कोलो कहानी । तुम जानत केवलज्ञानी ।५। विपरीत एकांत विनयके । सशय अज्ञान कुनयके ॥ वश होय घोर अघ कीने । वचतं नहि जात कहीने । ६ । कुगुरुन की सेवा कीनी । केवल अदयाकरि भीनी ॥ या विध मिथ्यात वढायो । चहु गतिमधि दोप उपायो ।७। हिंसा पुनि झूठ जु चोरी । परवनितासों दृग जोरी ॥ आरँभ परिग्रह भीने । पन पाप जु या विधि कीने ।८। सपर्स रसना घ्राननको । दृग कान विषय सेवनको ॥ वहु करम किये मन माने । कछु न्याय अन्याय न जाने ।९। फल पच उदंवर खाये । मधु माँस मद्य चित चाये ॥ नहि अष्ट मूल गुणधारे । सेये कुविसन दुखकारे । १० । दुइवीस अभख जिन गाये । सो भी निशदिन भुंजाये ॥ कछु भेदाभेद न पायो । ज्यो त्यो करि उदर भरायो ।११। अनतानु वधी सो जानो प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ॥ सज्वलन चौकरी गुनिये । सव भेद जु षोडश मुनिये ।१२। परिहास अरति रति शोक । भय ग्लानि निवेद सजोग ॥ पनवीसा जुभेद भये इम ।

इनके वश पाप किये हम ।१३। निद्रावश शयन करायो। सुपने मधि दोप लगायो ।। फिर जागि विषय वन धायो । नानाविध विषफल खायो ।१४। आहार निहार विहार । इनमें नहिं जतन विचारा।। विन देखे घरा उठाया। विन शोधा भोजन खाया।१५। तब ही परमाद सतायो। बहुविध विकल्प उपजायो ।। कछु सुधि बुधि ताहि रही है। मिथ्यामति छाय गई है।१६। मरजादा तुम ढिग लीनी। ताहूमें दोष जु कीनी ।। भिन्न २ अब कैसे कहिये। तुम ज्ञानविषें सब पइये ।१७। हा हा मैं दुठ अपराधी। त्रसजीवनराशि विराधी।। थावरकी जतन न कीनी। उरमें करुणा नहिं लीनी।१८। पृथ्वी बहु खोद कराई। महलादिक जांगा चिनाई।। विन गाल्यो पुन जल ढोल्यो। पंखातै पवन विलोल्यो ।१९। हा हा मैं अदयाचारी । बहु हरितकाय जु विदारी ।। या मधि जिवनिके खदा । हम खाये धरि आनंदा ।२०। हा हा परमाद बसाई। विन देखे अगनि जलाई।। तामध्य जीव जो आये। तेहू परलोक सिधाये। २१। बीधो अन रात पियासो। ईंधन विन सोध जलायो ।। झाडू ले जागा बुहारी। चिंटीयादिक जीव विदारी। २२। जल छानि जिवानी कीनी। सोहू पुनि डारि जु दीनी ।। नहिं जलथानक पहुचाई : किरिया विन पाप उपजाई।२३। जल मल मोरिन गिरवायो। कृमि कुल बहु घात करायो। नदियन बिच चीर धुवाये। कोसनके जीव मराये ।२४। अन्नादिकन शोध कराई। तामें जु जीव निसराई ।। तिनका नहि जगन कराया। गलियारे धूप डराया।२५। पुनि द्रव्य कमावन काज। बहु आरँभ हिसा

साजे ॥ कीये तिसनावश भारी। करुना नहिं रंच विचारी।२६। इत्यादि पाप अनंता। हम कीने श्री भगवता॥ सतति चिरकाल उपाई। वानी तें कही न जाई।२७। ताको जु उदय जब आयो। नानाविध मोहि सतायो॥ फल भुंजत जिय दुख पावैं। वचतैं कैसे करि गावैं।२८। तुम जानत केवलज्ञानी। दुख दूर करो शिवथानी॥ हम तो तुम शरन लही है। जिन तारन विरद सही है।२९। इक गांवपती जो होवै। सो भी दुखिया दुख खोवै॥ तुम तीन भुवनके स्वामी। दुख मेटो अन्तरजामी।३०। द्रोपदिको चीर बढायो। सीताप्रति कमल रचायो॥ अ जन से किये अकामी। दुख मेटो अन्तरजामी।३१। मेरे अवगुन न चितारो। प्रभु अपनो विरद निहारो॥ सब दोष रहित करि स्वामी। दुख मेटहु अन्तरजामी।३२। इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ। विषयनिमे नहिं लुभाऊँ॥ रागादिक दोष हरीजे। परमातम निजपद दीजे।३३। दो—दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीजो मोहि। सब जीवनके सुख बढ़ै, आनन्द मंगल होय।३४। अनुभव माणिक पारखी, जोहरि आप जिनन्द। येही वर मोहि दीजिये, चरन सरन आनन्द।३५।

इति आलोचनापाठ समाप्त।

प्रशस्ति।

दोहा-अवध लखनऊ नग्रमें, अग्रवाल शुभ वंश।
मंगलसैन सु शास्त्रवित्, धर्मी निर्मल हंस।१।
तिन सुत मक्खनलालजी, तीजा सुत हूँ जास।
सीतल बत्तिस वय थकी, करत त्याग अभ्यास।२।

उन्निस पैतीस विक्रमा, जन्म कार्तिक मास।
उन्निस पच्चासी विषै, रुहतक बस चौमास। ३।
मंदिर तीन दिगम्बरी, बालक शाला एक।
कन्याशाला भी लसै, धर्मशाल पुनि एक। ४।
औषधिशाला दो लसै, एक सर्व समुदाय।
जोरावरसिंहसे चले, द्वितिय रुग्न सुखदाय। ५।
अग्रवाल जैनी बसै, दो शत घर समुदाय।
निज २ मति अनुसार सब, सेवत धर्म स्वभाय। ६।
कपूरचन्द अरु दीपचन्द, तथा जयन्तिप्रसाद।
नानकचन्द सु लालचन्द, श्यामलाल दुखवाद। ७।
रत्नलाल उग्रसेनजी, और जिनेश्वर दास।
आदि वकील प्रवीण है, सिंह दिवान उदास। ८।
मास्टर है शिवराम बुध, रामलाल विद्वान।
इत्यादि सार्धमिमें, किया सु निज कल्याण। ९।
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना ग्रन्थ।
संस्कृतसे भाषा लिखी, चलै ध्यानका पथ। १०।
नरनारी चित्त दे पढो, समझो अर्थ विचार।
मनन करो आतम लखो, पावो ज्ञान उदार। ११।
श्री जिनेन्द्रके ध्यानसे, होवे आतम ज्ञान।
आतम सुख नितप्रति रहे, होवे सब कल्याण। १२।
मंगल श्री अरहंत है, मंगल सिद्ध महान।
मंगल श्री जिनधर्म है, "सीतल" को सुखदान। १३।
ब्र० सीतल। ता० ४-१०-२८।